chapter-1

प्रथम अध्याय

'राष्ट्रीयता के विधायक तत्व और राष्ट्रीय जागरण की विविध भूमियाँ'

पंडित सोहनलाल द्विवेदी हिन्दी की राष्ट्रीय काव्य-धारा के कवि माने जाते हैं। उनका कविता काल जिस कालखण्ड से आरंभ होता है, वह राष्ट्रीय आंदोलनों तथा स्वतंत्रता की अदम्य चेतना एवं गतिविधियों का काल है जिससे पर्याप्त पूर्व भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस पूर्ण स्वतंत्रता की घोषणा कर चुकी थी। तब से लेकर स्वतंत्रता की प्राप्ति के आज पैंतीस छत्तीस वर्ष बाद तक राष्ट्रीय चेतना से ओतप्रोत आह्वान से परिपूर्ण उनकी रचनाएं निरन्तर प्रकाश में आती रही हैं। यदि पूर्व-पीठिका पर दृष्टिक्षेप करें तो सांस्कृतिक राष्ट्रीय जागरण से आरंभ हुई वैचारिक क्रान्ति उनके कविता काल के आरंभ तक राजनीतिक आंदोलनों का रूप ले चुकी थी। अत: एक ओर वे सांस्कृतिक राष्ट्रीय जागरण की देन या उल्लेखनीय उपलब्धि कहे जा सकते हैं तो दूसरी ओर भारत की राष्ट्रीय चेतना के संवाहक भी हैं। तदर्थ इस वस्तुस्थिति के प्रकाश में उनके कृतित्व के विविध पक्षों के समुचित क न्यायपावना के लिए यह आवश्यक प्रतीत होता है कि राष्ट्रीयता के विधायक तत्वों तथा भारत के राष्ट्रीय जागरण की भूमियों पर विचार किया जाय।

भारत को स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए दीर्घ काल तक संघर्ष करना पड़ा है। उसके इतिहास को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि यह संघर्ष अन्य देशों के संघर्षों की तुलना में एक विशेष प्रकार का रहा है। भारत जो कि वर्षों से अंग्रेजों के अधीन रहकर गुलामी मनोदशा में अत्यधिक दयनीय और हेय जीवन व्यतीत कर रहा था, उसे वर्षों की कुंभकरणीय निद्रा में से जगाना आवश्यक ही नहीं अपितु अनिवार्य भी था। राजनीतिक पराधीनता से अधिक गंभीर स्थिति राष्ट्र की मानसिक परतंत्रता में होती है और यह तब होता है जब देश अपनी शारीरिक एवं मानसिक शक्तियाँ खो बैठता है ; और निजी स्वत्व खोकर परमुखापेक्षी हो जाता है। पारस्परिक कलह, ईर्ष्या एवं शंकाशील मानस समाज की व्यवस्था को छिन्न-भिन्न कर देता तथा जीवन मूल्यों को विस्मृत कर देता है। भारत की भी कुछ ऐसी ही स्थिति थी। वह भी पारस्परिक कलह , आर्थिक दुर्दशा वैश्विक विज्ञानजन्य अनभिज्ञता और धार्मिक एवं सांस्कृतिक जीवन मूल्यों की विकृति के कारण अपना स्वत्व खो बैठा

था । ऐसी परिस्थिति में स्वातंत्र्य-प्राप्ति के लिए उसे उक्त स्थितियों से उन्मुक्त होना आवश्यक था और इसके लिए आवश्यक था `राष्ट्रीय जागरण` । माँ भारती के अनेक वीर सपूतों ने अपनी इस लक्ष्य-सिधि के लिए अपने प्राणों की बाजी लगा दी है । उनके प्रयत्नों के परिणाम-स्वरूप पर्याप्त संघर्ष के पश्चात भारत स्वतंत्र हो सका, किन्तु इस लक्ष्य की संप्राप्ति के निमित्त उसे विविध परिस्थितियों से गुजरना पड़ा । राष्ट्रीय जागरण की इन विविध भूमियों पर सविस्तर अध्ययन के पूर्व राष्ट्र एवं राष्ट्रीयता के अर्थ तथा कतिपय विद्वानों द्वारा दी गई कुछ परिभाषाओं पर विचार कर लेना समीचीन जान पड़ता है जिससे उनका स्वरूपगत भेद स्पष्ट हो जाय ।

(क) राष्ट्र और राष्ट्रीयता :

युग-परिवर्तन के साथ-साथ `राष्ट्र` शब्द का अर्थगत संकोच एवं विस्तार भी होता रहता है ।[१] राष्ट्र विषयक अवधारणा `राष्ट्रीयता` शब्द से अभिव्यक्त होती है । राष्ट्रीयता शब्द अंग्रेजी भाषा के `नैशनेलिटी` के पर्यायवाची शब्द के रूप में हिन्दी में प्राय: प्रयुक्त होता है । राष्ट्रीयता प्राय: एक ही प्रजाति(नस्ल) के मानने वाले जन-समुदाय से प्रकट होती है । फिर भी सृष्टि की चिरन्तन परिवर्तनशीलता के परिणाम स्वरूप आज प्राय: विश्व की प्रत्येक राष्ट्रीयता एकाधिक जातियों के मिश्रित रक्त का प्रतिफल है । प्रोफेसर जिमर्न के अभिमत में, `राष्ट्रीयता एक भावना, विचार तथा जीवन का एक मार्ग है ।----राष्ट्रीयता एक प्रकार से एक जाति की धार्मिक तथा सांस्कृतिक एकता को प्रकट करती है ।`[२] यह सांस्कृतिक एकता सामाजिक परम्परा की देन होती है और सामाजिक परम्परा की एकता देश विशेष, समान भौगोलिक पर्यावरण तथा जाति-परंपरा से विकसित हो सकती है । भारत की राष्ट्रीयता के सन्दर्भ में सांस्कृतिक परम्परा को प्रकाशित करते हुए इतिहासविद विन्सेन्ट स्मिथ ने लिखा है, `अनेक कारणों से विभिन्नताओं के होते हुए भी भारत

में मौलिक एकता के कुछ बन्धन हैं। यह अनिवार्य मौलिक एकता इस तथ्य पर आधारित है कि भारत ने विभिन्न लोगों ने एक विशेष प्रकार की सभ्यता तथा संस्कृति को उन्नत किया है जो कि संसार में अन्य संस्कृतियों से भिन्न है।---- ये बन्धन सामान्य राजनीति तथा आर्थिक हित हैं जो कि उनके अस्तित्व के लिए बहुत महत्वपूर्ण हैं।[3] गिलक्राइस्ट के अभिमत में 'राष्ट्रीयता व राज्य मिलकर राष्ट्र बनाते हैं।[4] डा० आबिद हुसैन भी इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं, 'इसलिए हम कहेंगे कि राष्ट्र ऐसे लोगों का समूह है जो स्वेच्छा से एक ही राजनीतिक व्यवस्था के अधीन एक ही राज्य में रहते हों। ----- अगर किसी समाज में राजनीतिक एकता के साथ-साथ सांस्कृतिक एकता भी होती है तो उसे राष्ट्र कहा जाता है।'[5]

राष्ट्र और राष्ट्रीयता से सम्बंधित उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि राष्ट्रीयता एक भावना है जिसका उद्रेक किसी जाति या नस्ल में सांस्कृतिक बंधनों के रूप में होता है। जब उसमें राजनीतिक एकता व शासन की एकसूत्रता का संगठन उपस्थित होता है तब वह राष्ट्र का रूप धारण करती है।

अब प्रश्न उठता है कि क्या भारत एक राष्ट्र है ? भारत को राष्ट्र मानने के संदर्भ में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। एक पक्ष भारत को राष्ट्र मानता ही नहीं है और यदि मानता भी है तो उसे पश्चिम की ही देन के रूप में, जब कि दूसरा पक्ष भारत को प्राचीन काल से ही राष्ट्र के रूप में स्वीकार करता है और पश्चिम ही की देन के रूप में अस्वीकार करता है। वैसे आधुनिक राष्ट्र के स्वरूप-निर्माण में पाश्चात्य प्रभाव को यह पक्ष अवश्य स्वीकार करता है।

प्रथम पक्ष में विदेशी विद्वानों में सर ज्हान स्ट्रेची, प्रोफेसर सीली प्रभृति हैं जो भारत को राष्ट्र नहीं मानते हैं।[6] भारतीय विद्वानों में डा० कृष्णलाल का अभिमत इस संदर्भ में उल्लेखनीय है। वे भारत को राष्ट्र अवश्य मानते हैं किन्तु पश्चिम के लोगों की देन के रूप में ही। उनका कथन है, '१९ वीं शताब्दी से पहले

भारतीय साहित्य में जन्मभूमि अथवा राष्ट्र पर कोई कविता नहीं थी । भारत में राष्ट्र की भावना कभी थी ही नहीं । जन्मभूमि अथवा मातृभूमि नाम की वस्तु तो थी अवश्य, परन्तु हम अपने गांव को ही जन्मभूमि मानते थे । भारत वर्ष को जन्मभूमि मानना हमने पश्चिम से सीखा`[7] । डा० श्री कृष्णलाल का यह मत - निराधार कहा जा सकता है क्योंकि भारतीय साहित्य में भारतभूमि के प्रति गौरव की भावना पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है । प्रसिद्ध कांग्रेस नेता सुरेन्द्रनाथ बनर्जी भी इसी प्रकार का चिन्तन करते थे । परिणाम स्वरूप उन्होंने एक पुस्तक `ए नेशन इन मेकिंग` लिखी थी जिसके अनुसार यह सिद्ध होता है कि भारत अभी राष्ट्र बना नहीं है, परन्तु राष्ट्र बन रहा है ।

दूसरे पक्ष में भारत को राष्ट्र माननेवाले विदेशी विद्वानों में सर हरबर्ट रिजले का अभिमत प्रस्तुत किया जा सकता है । अपनी प्रसिद्ध पुस्तक `प्युपिल आफ इंडिया` में वे लिखते हैं, `भारत में मजहब(धर्म), रीति-रिवाज और भाषा तथा सामाजिक और शारीरिक विभिन्नताओं के होते हुए भी, जीवन की एक विशेष एकरूपता कन्याकुमारी से लेकर हिमालय तक देखी जा सकती है । वास्तव में भारत का एक अलग चरित्र तथा व्यक्तित्व है, जिसको अलग नहीं किया जा सकता`।[8] सुप्रसिद्ध इतिहासकार स्मिथ भारत की राष्ट्रीयता और सांस्कृतिक एकता की विशिष्टता पर बल देते हुए लिखते हैं,` भारतवर्ष में वंश, वर्ण, भाषा, वेशभूषा तथा रीति-रिवाज सम्बंधी विभिन्नताओं में भी एक अखंड सार्वभौम एकता है । भारतवर्ष की संस्कृति की सबसे महान विशेषता है कि उसमें हमें विभिन्नताओं में एकता के दर्शन होते हैं ।[9] इस संदर्भ में भारतीय विद्वानों में डा० आबिदहुसैन का निम्नलिखित कथन विचारणीय है ।

` प्राचीन भारत में राष्ट्रीय संस्कृति का सूत्रपात` शीर्षक के अंतर्गत वे भारत को वैदिक हिन्दू संस्कृति के काल से ही राष्ट्र मानते हुए वे अपना अभिमत व्यक्त करते हैं कि ` जब चंद्रगुप्त मौर्य ने सिल्यूकस को हराकर देश को यूनानी प्रभुता के

खतरे से बचाया और समूचे उत्तरी भारत को एक राज्य के रूप में संगठित किया। और उसके पौत्र अशोक ने इस राज्य का विस्तार किया- यहां तक कि दूर दक्षिण के एक छोटे से प्रदेश को छोड़कर समूचे भारत को अपने झण्डे के अधीन कर लिया - तब राजनीतिक एकता ने सांस्कृतिक एकता के साथ मिलकर ऐक्य की भावना को, जो अभी अपने शैशव में ही थी, बल दिया, एक तरह से भारत के लोगों को उस समय राष्ट्र नाम से अभिहित किया जा सकता था। यहां राष्ट्र शब्द का जिस अर्थ में प्रयोग हुआ है उसके बारे में कोई गलत फहमी नहीं होनी चाहिए। कहने का तात्पर्य यह नहीं कि दो हजार से भी अधिक वर्ष पूर्व भारत में आज के किसी पाश्चात्य देश जैसी राष्ट्रीय एकता का अस्तित्व था परन्तु इसमें कोई शक नहीं कि भाषा, जाति और कुछ हद तक संस्कृति का अन्तर रहते हुए भी सामान्य धार्मिक एवं सांस्कृतिक एकता ने और एक ही सम्राट की प्रजा होने की चेतना ने एकता की ऐसी भावना को उद्बुद्ध किया होगा जिसे 'राष्ट्रीयता' शब्द से व्यक्त किया जा सकता है।'[१०] प्रसिद्ध सूत्र 'देशंतत् भारतंनाम भारती यस्य संततिः' भी इस तथ्य की पुष्टि करता है। हमारा वैदिक साहित्य मातृभूमि के प्रति गहरा अनुराग अभिव्यक्त करता है। प्रस्तुत साहित्य में सर्वाधिक उल्लेखनीय प्रसंग अथर्ववेद के 'पृथ्वीसुक्त' में है जिसमें मातृभूमि के प्रति ६३ भावसभेर प्रार्थनाएं हैं।[११] डा० वासुदेवशरण अग्रवाल इस सम्बंध को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं, 'भूमि राष्ट्र का शरीर है, जन उसका प्राण है और जन की संस्कृति उसका मन है। शरीर, प्राण और मन इन तीनों के सम्मिलन से ही राष्ट्र की आत्मा का निर्माण होता है।[१२]

इस संदर्भ में रमेशचन्द्र मजूमदार का कथन उल्लेखनीय है। वे कहते हैं, 'यह समझना भूल है कि यह (राष्ट्रीयता) पर्णरूपेण आधुनिक घटनाओं का प्रतिफल है और प्राचीनकाल में इसका अस्तित्व कुछ भी नहीं था। भारत की मूलभूत एकता 'भारतवर्ष' और 'भारत सन्तति' इन दो शब्दों में झलकती है। महाकाव्यों तथा पुराणों में देश का नाम 'भारतवर्ष' दिया गया है। इसके निवासियों को 'भारत सन्तान' कहा गया है।[१३]

डा० देवराज शर्मा राष्ट्र-प्रेम परक वैदिक साहित्य का महत्व अंकित करते हुए लिखते हैं, `आधुनिक राष्ट्रवाद जिसे पाश्चात्य साहित्य और राजनीतिक मंच की देन माना गया है वास्तव में प्राचीन भारतीय राष्ट्रवाद की तुलना में अनुभूति की गहराई, विचारों की प्रखरता और क्रिया की उदात्तावस्था इन तीनों ही क्षेत्रों में कहीं अधिक पीछे रह जाता है।`[१४]

वस्तुत: अनेक विरोधों, मतभेदों तथा परस्पर विवादों के उपरान्त भी हमारी संस्कृति और सभ्यता का इतिहास इस बात का साक्षी है कि हमारा भारत वैदिक काल से ही एक राष्ट्र रहा है। यद्यपि एकाधिक आधुनिक विचारक `राष्ट्र` की परिकल्पना को पाश्चात्य मनीषियों का मानवता पर ऋण स्वीकार करते हैं तथापि कोई भी भारतीय जिसे अपने अतीतकालीन विपुल साहित्य, संस्कृति और ऐतिहासिक परंपराओं का समुचित ज्ञान है वह इस मंतव्य को स्वीकार नहीं करेगा। यह एक अलग बात है कि वर्तमान युग में राष्ट्र का जो स्वरूप निर्धारित किया गया है अतीत भारत के उसी रूप में दर्शन कर सकना कठिन है। वस्तुत: अतीत भारत का स्वरूप-निर्धारण पूर्णतया `हिन्दूवाद` पर ही आधारित था और हिन्दू संस्कृति द्वारा ही राष्ट्रवाद की परिकल्पना का उदय हुआ था। इस तरह भारत प्राचीन काल से ही एक राष्ट्र के रूप में (तत्कालीन चिन्तनानुसार) न केवल जीवित ही रहा अपितु उसने सदैव विश्व के विभिन्न देशों में भारत राष्ट्र की गरिमामय पताका को सुदीर्घ समयावधि तक फहराया है।

(ख) राष्ट्रीयता के विधायक तत्व :

प्रस्तुत विषय पर पूर्व एवं पश्चिम के एकाधिक विद्वानों ने पर्याप्त चिंतन किया है। किसी ने एक को अधिक महत्व दिया है तो किसी ने दूसरे को। किन्तु अधिकांश विद्वानों ने प्रकारांतर से राष्ट्रीयता के ~~आठ~~ सात तत्वों को स्वीकार किया है जिनमें (१) भौगोलिक एकता (२) भाषा गत एकता, (३) ऐतिहासिक परंपरा एवं

सांस्कृतिक एकता (४) जातिगत एकता(५) धर्मगत एकता,(६) आर्थिक हितों की समानता तथा (७) सामान्य प्रशासन की गणना की जा सकती है।[१५] राष्ट्र के स्वरूप के वास्तविक दर्शन के दृष्टिकोण से इन राष्ट्रीयता विधायक तत्वों का पृथक-पृथक संक्षिप्त विवेचन समीचीन होगा।

(१) भौगोलिक एकता अथवा एक संहित भौगोलिक क्षेत्र में निवास :

एक संहित भौगोलिक क्षेत्र में किसी भी मानव जाति का पर्याप्त समय तक निवास करने पर उसमें राष्ट्रीय भावनाओं के अंकुर प्राय: प्रस्फुटित होते हैं। भौगोलिक एकता के अभाव में राष्ट्रीय भावना के विकास में अत्यधिक बाधा उपस्थित होती है। यथा पूर्वी और पश्चिमी पाकिस्तान में भौगोलिक एकता के अभाव के कारण दोनों में संगठित राष्ट्रीय भावना का उद्भव असंभव-सा हो जाता है। यह सत्य है कि एक निश्चित भू-भाग पर बसने से वहाँ के मानव-समाज में उस धरती के प्रति प्रगाढ़ स्नेह और ममत्व प्रस्थापित हो जाता है। परिणामत: वह उस धरती के प्रति अपनी मातृभूमि, पुण्यभूमि आदि शब्दों की संवेद्य अनुभूति करने लगता है। इतना ही नहीं उसकी स्वतंत्रता और अखंडिता की रक्षा के हेतु वह अपना सर्वस्व बलिदान करने के लिए सदैव उद्यत रहता है। मातृभूमि से प्रेम करना राष्ट्रीयता की भावना के उद्भव एवं विकास के लिए परम आवश्यक है। इसके विपरीत, घुमक्कड़ जातियों या कबीलों में राष्ट्रीय भावनाएँ उत्पन्न हो ही नहीं सकतीं क्योंकि एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमते रहने के परिणामस्वरूप ऐसे समाज के लोगों का धरती से रागात्मक सम्बंध ही स्थापित नहीं हो सकता। एक संहित भौगोलिक क्षेत्र में दीर्घकाल तक निरन्तर रहने से वहां के लोगों के रीति-रिवाज, रहन-सहन, खान-पान, दु:ख-सुख की मधुर स्मृतियां, साहित्य, इतिहास, आर्थिक हित आदि समान बन जाते हैं। इसके परिणामस्वरूप परस्पर अपनत्व के भाव उत्पन्न तो होते ही हैं, किन्तु समान इतिहास-बोध की प्रतिष्ठा से भावनात्मक एकता स्थापित होती है, जो राष्ट्रीयता के भावों के उद्रेक के लिए पोषक है। इसी कारण अपने देश या

देश के निवासियों के प्रति गौरव का भाव जगता है ।

उपर्युक्त विवरण से यह सिद्ध हो जाता है कि राष्ट्रीय भावनाओं के उदय व विकास के लिए किसी भी जाति का एक ही भू-भाग में सुदीर्घ समयावधि तक निवास करके रहना परम आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है । इस तरह राष्ट्रीयता के विधायक तत्वों में इसका महत्वपूर्ण स्थान है ।

(२) भाषागत एकता :

भाषा की एकता या समानता भी राष्ट्रीयता के निर्माण की दृष्टि से एक महत्वपूर्ण तत्व माना गया है क्योंकि सामान्य भाषा द्वारा ही एक देश का जन समुदाय परस्पर अपने विचारों तथा भावनाओं को सुविधापूर्वक अभिव्यक्त कर सकता है । परिणामत: इनमें सुदृढ़ सम्बंधों की स्थापना हो जाती है । सामान्य जनभाषा से समाज में सांस्कृतिक एवं साहित्यिक एकता निर्मित होती है । यदि भाषा की एकता न हो तो एक ही देश-प्रदेश के विभिन्न लोगों को परस्पर संपर्क स्थापित करने में अत्यधिक असुविधा उत्पन्न होती है । भाषा की विविधता के कारण एक ही प्रदेश के लोगों में परस्पर उदासीनता के साथ-साथ रागात्मक सम्बंधों में उतनी निकटता नहीं स्थापित हो सकती जो समान भाषा के कारण सम्भव है । इस संदर्भ में सुप्रसिद्ध विद्वान म्यौर का यह मत उल्लेखनीय है कि -'विभिन्न जातियों और नस्लों को प्रेम-सूत्र में बांधने वाली शक्ति केवल भाषा है । वास्तव में समान भाषा और विचारों की एकता तभी आ सकती है जब कि समान भाषा आ जाये ।'[१६]

श्री बोहेम भी भाषा की इस शक्ति को स्वीकार करते हुए उसे समाज के नैतिक और भौतिक अस्तित्व के लिए आवश्यक माना है ।[१७] यद्यपि इससे राष्ट्र-निर्माण में भाषा की महत्ता तो प्रतिपादित होती है तथापि इसे अनिवार्य तत्व स्वीकार नहीं किया जा सकता । इसे सहायक तत्व के रूप में ही स्वीकार किया

जाना चाहिए क्योंकि एकाधिक भाषाओं के प्रचलन के बावजूद भी संसार में अनेक राष्ट्र प्रतिष्ठित हैं ।

(३) ऐतिहासिक परंपरा एवं सांस्कृतिक एकता :

इतिहास किसी भी देश के अतीत का दर्पण होता है । वह मानव जाति की जय-पराजय, विशेषताओं-त्रुटियों, सफलताओं-असफलताओं, राष्ट्रीय वीरता की भावनाओं आदि का एक लिखित दस्तावेज है । देश की अखंडता और स्वाधीनता को बनाये रखने के उद्देश्य से संकट काल में देश के जिन वीरों ने निस्वार्थ आत्म-बलिदान दिये हों उनकी वीरतापूर्ण गाथायें पढ़कर देश के नवयुवक प्रेरणायें ग्रहण करते हैं । उन्हीं से उत्प्रेरित होकर वे भी अपने देश के लिए आत्म-समर्पण और सर्वस्व बलिदान कर देते हैं । कोई भी राष्ट्र अपनी अतीतकालीन उज्ज्वल ऐतिहासिक परंपरा की विरासत से ही उत्प्रेरित होकर वर्तमान में भविष्य के लिए जीता है । जिस देश का राष्ट्र्या इतिहास जितना उज्ज्वल और गरिमामय होगा उस देश की जनता उतनी ही संगठित और राष्ट्रीय भाव सभर होगी ।

राष्ट्रीय चेतना और राष्ट्र के स्वरूप-निर्धारण में संस्कृति का अत्यधिक महत्व रहा है । राष्ट्रीय एकता के लिए सांस्कृतिक एकता का होना परम आवश्यक समझा गया है । जीवन के चरम मूल्यों को महत्व प्रदान करते हुए डा० आबिद हुसैन संस्कृति के संदर्भ में कहते हैं कि-`संस्कृति किसी समाज में निहित चरम मूल्यों की सामंजस्यपूर्ण चेतना है जिसकी अभिव्यक्ति उसने अपनी सामूहिक संस्थाओं में की हो, जिसकी अभिव्यक्ति उसके व्यक्ति-सदस्यों ने अपने भाव-स्वभाव अपनी प्रवृत्तियों अपने आचरण में और भौतिक वस्तुओं को दिये गये महत्वपूर्ण रूपों में की हो ।`[१८]

जिन चरम मूल्यों की संप्राप्ति के लिए मानव जाति पुराकाल से प्रयत्नशील रही है, संस्कृति उसी का परिपाक है । उसी ने मानव को अपनी संकीर्ण एवं कलुषित

वृत्तियों से ऊपर उठाकर विशालता एवं दीव्यता के उन्मुक्त वायुमंडल में जीवित रखने का सुअवसर प्रदान किया है। संस्कृति राष्ट्रीयता का प्राण है। वह समन्वय-कारिणी होती है। फलत: दो भिन्न राष्ट्रों की संस्कृतियों के मिलन-प्रसंग में दोनों की पारस्परिक विशेषताओं का आदान-प्रदान होने लगता है जिसके परिणाम-स्वरूप दोनों राष्ट्र लाभान्वित होते हैं। भारतीय संस्कृति, जो विश्व की अन्य संस्कृतियों की तुलना में अपना वैशिष्ट्य रखती है, अपनी इसी समन्वयकारिणी प्रकृति के कारण अनेक भिन्न संस्कृतियों को अपने में समाहित करते हुए सांस्कृतिक एकता स्थापित कर चुकी है। इसकी मौलिक एकता पर विचार करते हुए डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ठीक ह कहते हैं कि- 'यद्यपि यहां अनेक धर्म, भाषाएं और लिपियां हैं, किन्तु उनमें मौलिक ऐक्य है। भारतीकरण की बलवती प्रक्रिया सूक्ष्म रूप से सब पर अपना प्रभाव डालती रही है। उसकी मौलिक प्रवृत्ति यह है कि समवाय के सांचे में प्रत्येक नये रूप को डालकर उसे अपना बना लिया जाय।---- विपरीत परिस्थितियों से यह कुंठित नहीं होती, वरन् उन्हें अपने वश में लाकर उन पर अपना रंग चढ़ा लेती है। राष्ट्र की यह जीवनी-शक्ति उसकी सांस्कृतिक तत्परता है।'[१९] राष्ट्रीय चेतना के साथ-साथ राष्ट्र के स्वरूप-निर्माण में संस्कृति का स्थान निर्धारित करते हुए डा० मदनगोपाल गुप्त लिखते हैं कि- 'तात्त्विक दृष्टिकोण से संस्कृति का सम्बन्ध देश-विशेष की राष्ट्रीयता के साथ सर्वाधिक है। किसी देश में चिरकाल से चले आते हुए जीवनगत आदर्श, रीति-नीतियां, सामाजिक परम्पराएँ, विश्वास, मान्यताएं दर्शन आदि अनेक सांस्कृतिक उपकरण राष्ट्रीय चेतना के साथ ही राष्ट्र के वैशिष्ट्य के निर्माण में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। अतएव राष्ट्र एक प्रकार से - सांस्कृतिक इकाई है और इस विशेषता के कारण संस्कृति राष्ट्रीयता को दृढ़ भी कर सकती है।'[२०] राष्ट्र की सृजन-प्रक्रिया में संस्कृति की महत्ता प्रतिपादित करते हुए डा० वासुदेवशरण अग्रवाल लिखते हैं कि- 'विचार और कर्म के क्षेत्र में राष्ट्र का जो सृजन है, वही उसकी संस्कृति है। ----- प्रत्येक राष्ट्र की दीर्घकालीन ऐतिहासिक हलचल का लोकहितकारी तत्व उसकी संस्कृति है। संस्कृति राष्ट्रीय जीवन की आवश्यकता है।[२१]

संस्कृति विषयक उक्त विवरण से यह सिद्ध किया जा सकता है कि राष्ट्र एवं राष्ट्रीयता के स्वरूप-निर्धारण में संस्कृति आवश्यक ही नहीं अनिवार्य तत्व भी है ।

(४) जातिगत एकता :

मानव-समाज के विकास के प्रारंभिक अवस्थाओं में सामाजिक एवं सांस्कृतिक एकता के आधार के रूप में जाति का बड़ा महत्त्व रहा है । एक ही नस्ल या वंश के लोगों में स्वाभाविक एकता के दर्शन होते हैं । श्री बर्गेस तथा लीकाक तो राष्ट्र का मुख्य आधार ही नस्ल की एकता को मानते हैं । लार्ड ब्राइस ने भी इसे राष्ट्र-निर्माण के प्रमुख तत्वों में से अत्यन्त महत्वपूर्ण तत्व स्वीकार किया है । श्री जिमॅन के मतानुसार, 'राष्ट्रीयता में एक विशेष प्रकार की सामूहिक आत्मचेतना का भाव विद्यमान होता है जिसमें नस्ल की एकता या रक्त की शुद्धता का तत्व शायद सबसे अधिक महत्वपूर्ण होता है ।'[२२]

यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि रक्त की शुद्धता राष्ट्र-निर्माण का एक महत्वपूर्ण तत्व है तथापि राष्ट्र निर्माण के लिए यह एक निर्णायक तत्व नहीं हो सकता, क्योंकि आधुनिक काल में किसी भी मानव जाति में रक्त की शुद्धता रह ही नहीं पाई है । रक्त के सम्मिश्रण के परिणामस्वरूप आज कोई भी राष्ट्रीयता, चाहे कितनी ही प्राचीन क्यों न हो, रक्त की शुद्धता का दावा नहीं कर सकती । अंग्रेजों में केल्टों, ट्यूटनों, डेनों तथा सैक्सनों के रक्त का मिश्रण है । इसी प्रकार संयुक्त राज्य अमेरिका, फ्रांस, चीन, रूस आदि में तथा भारत में भी विभिन्न प्रजातियों का अद्यावधि पर्याप्त सम्मिश्रण हो चुका है । यदि प्रजाति या नस्ल की एकता या शुद्धता को निर्णायक तत्व मान लिया जाय तो उपर्युक्त जातियां राष्ट्र नहीं बन सकती थीं । सारांश में यही स्वीकार करना औचित्यपूर्ण है कि प्रजातीय शुद्धता अनिवार्य न होते हुए भी यदि किसी देश में प्रजातीय एकता विद्यमान हो तो वहां पर राष्ट्रीय एकता के विकास में विशेष सहायक बन सकती है ।

(५) धर्मगत एकता :

विश्व के एकाधिक देशों में राष्ट्रीयता के निर्माण में धर्म का महत्वपूर्ण योगदान रहा है । प्राचीन और मध्यकाल में प्राय: सभी देशों में धर्म का राजनीति पर अद्भुत प्रभाव परिलक्षित होता है । वस्तुत: धर्म मानव-समाज को स्वैच्छिक रूप से अनुशासन में रहना सिखाता है । वह मानव जाति के अभ्युदय का सशक्त माध्यम है ।[२३] भारतीय संस्कृति, जो विश्व की विभिन्न संस्कृतियों में अपना अद्वितीय स्थान रखती है, आज भी अपनी धर्म प्रवणता के कारण जीवित है । धर्म ही एक परम सत्ता की संतानों के रूप में मानव-समाज में संगठन व ऐक्य के भाव जागृत करता है । इस अर्थ में वह राष्ट्र का मूलाधार माना जा सकता है । भारत का उज्ज्वल अतीत अपनी धर्म प्रवणता के लिए विश्व-प्रसिद्ध है । भारत स्थित हिन्दू, मुस्लिम, पारसी, सिक्ख, ईसाई, जैन, बौद्ध आदि विविध धर्मानुयायियों के बाह्य आदर्श-विधियाँ, कुछ मान्यताएँ पर्याप्त रूप से भिन्न होते हुए भी सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करने पर सभी धर्मों में एक मौलिक ऐक्य का अजस्र प्रवाह निसृत होता हुआ दृष्टि-गोचर होता है । सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ स्मिथ का यह कथन- "भारत में सब धर्मों की विभिन्नता होते हुए भी मौलिक एकता के कुछ बंधन हैं ।"[२४] आज भी सत्यता की अनुभूति कराता है ।

किन्तु धर्म का एक दूसरा पक्ष भी है जो संप्रदाय के रूप में कतिपय सीमित आयामों में बद्ध होकर हमारे सामने आता है । उसकी कभी-कभी संकीर्ण विचारधारा एवं उससे प्रभावित मानव-समाज के सीमित चिन्तन के परिणाम स्वरूप धर्म के नाम पर विभिन्न जातियों में विशेष स्वार्थान्धता, संघर्ष आदि को प्रश्रय मिला है । भारत-पाकिस्तान जैसे दो भिन्न राष्ट्रों के उदय में अंग्रेजों की विभाजन -नीति और मुसलमानों की धर्मांधतामय स्वार्थ नीति का ही महत्वपूर्ण स्थान रहा है । इस तरह धर्म अपने विकृत रूप में विध्वंस का कारण भी बनता आया है, विश्व की विभिन्न जातियों का इतिहास इसका साक्षी है । आज धर्म-विषयक जो अवधारणा

विकसित हो चुकी है, वह पूर्वनिर्दिष्ट भारतीय अवधारणा से नितान्त भिन्न है। इसका विकसित अर्थ ~~(धर्मगत सत्ता)~~ एक प्रकार से राष्ट्रीयता के लिए बाधक ही कहा जा सकता है।

(६) आर्थिक हितों की समानता :

किसी भी जाति के समान आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक हित होने पर उसमें राष्ट्रीयता के भाव जागृत हो जाते हैं। १८ वीं शताब्दी में अपने आर्थिक हितों की सुरक्षा के उपलक्ष्य में ही इंगलैण्ड से सम्बंध विच्छिन्न करते हुए अमेरिका के विभिन्न राज्य परस्पर एकता के सूत्र में आबद्ध हो गये। फलत: वे स्वतंत्र भी हो गये। इस तरह आर्थिक हितों की समानता किसी जाति में संगठन उपस्थित कराने के लिए एक सशक्त माना जा सकता है, किन्तु इसे अनिवार्य तत्व नहीं माना जा सकता। कारण यह कि भारत में हिन्दू और मुसलमानों के बीच आर्थिक हितों की समानता होते हुए भी सन् १९४७ ई० में भारत और पाकिस्तान के रूप में दोनों जातियां सदा के लिए पृथक हो गयीं। एक प्रकार से देखा जाय तो यह राजनीतिक या प्रशासन गत समान व्यवस्था पर आधारित है, जिस पर नीचे विचार किया जा रहा है।

(७) सामान्य प्रशासन :

एक ही शासन के अधीनस्थ विभिन्न जातियों में राष्ट्रीय भावनाएं शनै: शनै: जागृत हो सकती हैं। भारत एवं विश्व के अन्य राष्ट्र इसका प्रमाण है। भारत दीर्घकाल तक अंग्रेजों के अधीन रहने के कारण उसकी विविध जातियों में राष्ट्रीय भाव उदित हुए। अमेरिका तथा स्विटरजरलैण्ड ऐसे ही देश हैं जिनमें सामान्य प्रशासन के परिणाम स्वरूप एक ही राष्ट्रीयता के भाव उत्पन्न हुए।

राष्ट्रीयता के विधायक तत्वों के संदर्भ में उपर्युक्त विवेचन के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि राष्ट्रीयता एक भावना है जिसके उदय के लिए,

एक संहित भौगोलिक क्षेत्र में एक राजनीतिक व्यवस्था को मानते हुए निवास एवं सामान्य सांस्कृतिक एकता की संपन्नता, न्यूनतम आवश्यकताएं समझी गयी हैं। जाति, धर्म, भाषा, सामान्य इतिहास इत्यादि शेष तत्वों में से जितने अधिक में समानता दृष्टिगोचर होगी उतने ही अनुपात में राष्ट्रीयता का बन्धन अटूट होगा। सुदीर्घ समयावधि तक एक ही प्रदेश में समान राजनीतिक व्यवस्था के अंतर्गत जीवन-यापन करने पर ये तत्व स्वयं विकसित हो जाते हैं। भारत के सन्दर्भ में इसकी ऐतिहासिक वस्तुस्थिति की संक्षिप्त चर्चा यहां आवश्यक है क्योंकि यही हमारे प्रतिपाद्य की भूमिका को समझने के लिए उचित जान पड़ता है।

सर्वप्रथम यदि अनिवार्य तत्व भौगोलिक एकता के संदर्भ में विचार किया जाय, तो वह तो भारत में इतनी प्रभूत मात्रा में है कि उसकी प्रतिस्पर्धा कुछ ही राष्ट्रीय राज्य कर सकते हैं। इसके मानचित्र पर दृष्टि डालने पर स्पष्ट हो जाता है कि उत्तर में हिमालय आदि पर्वतों से वह सुरक्षित है और दक्षिण, दक्षिण-पूर्व और दक्षिण-पश्चिम में वह तीनों महासमुद्रों से घिरा हुआ है।

इसके अतिरिक्त अविभाजित हिन्दुस्तान आत्म-निर्भर आर्थिक इकाई था और विभाजन के पश्चात भी भारत के पास वे सभी प्राकृतिक स्रोत व साधन उपलब्ध हैं जो संतुलित अर्थ व्यवस्था के लिए आवश्यक होते हैं। किन्तु उनके उचित विकास की परम आवश्यकता है।

जिस देश में भौगोलिक एकता एवं आर्थिक संतुलन विद्यमान हों, वहां स्वभावत: सांस्कृतिक एकता का समावेश हो जाता है, क्योंकि सांस्कृतिक जीवन को ढालने में भौगोलिक परिस्थितियां बहुत कुछ उत्तरदायी होती हैं। भारत की सांस्कृतिक विशेषता को निर्दिष्ट करते हुए डा० आबिद हुसैन कहते हैं, "बहुरंगी विविधताओं के बावजूद भारतीयों के सोचने समझने में, उनकी अनुभूतियों में उनके रहन-सहन में एक

मूलभूत एकता है, उसके प्रवाह में बदलते हुए राजनीतिक नक्षत्रों के साथ कभी ज्वार आया है, कभी भाटा पर उसका तिरोभाव कभी नहीं हुआ । कई बार विघटन की बाहरी और भीतरी शक्तियों के धक्के से इस एकता के खण्ड-खण्ड हो जाने की आशंका हुई है पर अन्त में एकता की भावना ने सदा विजय पायी है- विरोधी प्रवृत्तियां और आन्दोलन घुल-मिल कर एक रस हुए और सदा ही एक नई सामंजस्यपूर्ण संस्कृति का उदय होता रहा है ।[२५] भौगोलिक एकता के आधार पर समान अर्थ व्यवस्था तथा प्रशासन की एकता का निर्माण हो सकता है । अत: उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि भौगोलिक आधार पर समान इतिहास का निर्माण हुआ है या होता है । अत: यह राष्ट्रीय एकता में सहायक सिद्ध होता है । पूर्व निर्दिष्ट तत्वों में इन दोनों को भौगोलिक एकता में अन्तर्भूत किया जा सकता है ।

सामान्य भाषा के संदर्भ में सोचने पर यह कहा जा सकता है कि भारत में प्राचीन काल में 'संस्कृत' कभी राष्ट्र एवं राजभाषा के रूप में रही । वर्तमान भारत में 'हिन्दी' ने राष्ट्रभाषा का स्थान ग्रहण किया है । यद्यपि उसे राजभाषा निर्णित करने में राष्ट्र को कतिपय बाधाओं का सामना करना पड़ रहा है किन्तु यदि इस समस्या को सुलझाने के लिए समझ-बूझ और दूरदर्शिता से काम लिया जाय तो भारतीय जन-मानस में व्याप्त सांस्कृतिक एकता की अदम्य भावना सुरक्षित रहेगी और राजनीतिक एकता की बुनियाद भी मजबूत बनी रहेगी । अन्यथा यही समस्या राष्ट्र की एकता को छिन्न-विछिन्न कर सकती है ।

जाति या प्रजाति राष्ट्रीय गौरव को जगाती है । इस अर्थ में राष्ट्रीयता के उदय एवं उत्कर्ष में जातिगत एकता का महत्वपूर्ण स्थान है । भारत में शक, कुशाण, मुस्लिम, मुगल, पारसी, ईसाई आदि विभिन्न प्रजातियाँ समय-समय पर आईं और सदा के लिए बस गईं। ये यद्यपि प्रारंभ में अपनी भिन्न परंपराओं, मान्यताओं एवं संस्कारों के कारण भारतीय जलवायु में समाहित न हो सकीं, किन्तु शनै: शनै: भारतीय धर्म व संस्कृति, जो समन्वयवादी रही है, के रंग में रंग गईं और आज भारत की ही जातीय विशेषताओं को ग्रहण कर केवल भारत की जाति के रूप

में निवास करती हैं। अर्थात् भारतीय राष्ट्रीयता का एक अभिन्न अंग बनकर रहती हैं। ~~अथ~~ इस तरह राष्ट्रीयता के उदय में तथा उसकी गौरव वृद्धि में जातिगत एकता भी एक महत्वपूर्ण तत्व है। किन्तु इसका एक संकीर्ण रूप भी भारत में लक्षित किया जा सकता है। जब कभी देश में नैतिक मूल्यों के प्रति लोगों की आस्था असंतुलित हो जाती है तब वे जातीयता की उपासना करने लगते हैं। उनके सम्मुख राष्ट्र या समाज की एकता या सम्पन्नता की अपेक्षा ~~ननर्लिने~~ जातीयता(Caslism) ही महत्वपूर्ण लक्ष्य बन जाती है। अंग्रेजों के शासन-कालांतर्गत राष्ट्रीय जागरण के पुनरुत्थानवादी आंदोलन ने जब नूतन युग के उदय की चेष्टा की उससे पूर्व भारत इसी संकीर्ण मनोदशा में सड़ रहा था।

यूरोप की तरह भारतीय जनमानस उस जीवन-दर्शन से अपरिचित है जो राजनीतिक मूल्यों को धार्मिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों से कहीं ऊपर मानता है और विभिन्न वर्गों से इस बात की मांग करता है कि व्यापक राष्ट्रीय एकता की वेदी पर अपनी चिर प्रतिष्ठित संस्कृति को समर्पित कर दे। भारत में अपनी पूर्ववर्ती परंपराएं और वर्तमान परिस्थितियां दोनों ही विशेष प्रकार की राष्ट्रीयता के विकास के लिए अनुकूल हैं। राजनीतिक दबाव या शक्ति-प्रयोगों से भारत में एकता बनाये रखने का प्रयास न अतीत में सफल रहा न शायद वर्तमान में भी सफल हो सकता है। वस्तुतः 'भारत का कई हजार वर्षों का सांस्कृतिक इतिहास यह साबित करता है कि जीवन की असीम विविधता में एकता का जो सूक्ष्म और मजबूत धागा फैला हुआ है उसे पिरोने के लिए सत्ता दलों के दबाव या शक्ति का सहारा नहीं लिया गया, उसका श्रेय ऋषियों की दूरदर्शिता, सन्तों की जागरूकता दार्शनिकों के मनन-चिन्तन और कवि-कलाकारों की कल्पना को है और ये ही वे साधन हैं जिनका सहारा लेकर राष्ट्रीय एकता को अधिक व्यापक, अधिक सबल और अधिक स्थायी बनाया जा सकता है।'[२६]

(ग) आधुनिक राष्ट्रीय चेतना के विविध पक्ष :

आधुनिक राष्ट्रीय चेतना का सीधा सम्बंध सन् १८५७ के स्वतंत्रता संग्राम से है। यह घटना आकस्मिक ही है फिर भी ऐतिहासिक दृष्टि से यह वर्तमान स्वतंत्रता से जुड़ा हुआ है। इसके पूर्व एक ओर अंग्रेजों की अन्यायपूर्ण नीतियों के कारण असंतोष की आग वर्षों से भीतर ही भीतर जल रही थी और दूसरी ओर विदेशों में अंग्रेजों के विरुद्ध घटित घटनाओं ने भारतीयों की चेतना में साहस व उमंग भर दी। सिपाही मंगल पांडे ने योजना के दो मास पूर्व २६ मार्च १८५७ ई० के दिन अंग्रेज जनरल ह्युसन को मौत के घाट उतारते हुए विप्लव का मानो उद्घाटन किया। उसे यद्यपि फांसी दी गई तथापि उसकी शहादत ने भारतीय सिपाहियों में अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह की आग प्रवेग के साथ भड़क उठी। फलत: उनके द्वारा महान् क्रान्ति का सूत्रपात हो गया। मी- फौरेस्ट के मतानुसार विप्लववादी सिपाहियों पर मंगल पांडे की शहादत का अत्यधिक प्रभाव था।[२७] देखते-देखते उसकी विध्वंसकारी ज्वाला समस्त उत्तरभारत एवं राजस्थान के कतिपय प्रदेशों में विस्तारित हो गई। दक्षिण भारत और गुजरात में अपेक्षाकृत इसका विस्तार कम हुआ।

यदि समूचे विप्लव की गतिविधियों की समीक्षा की जाय तो यह कहा जा सकता है कि यद्यपि नान साहब, बहादुरशाह, रानी लक्ष्मीबाई, कुंवर सिंह, तात्याटोपे प्रभृति सबने विप्लव में यथाशक्ति वीरत्व प्रदर्शित कर शहीद होते हुए अपने राष्ट्र के प्रति अपने अदम्य भक्ति-भाव को अभिव्यक्त किया, तथापि विप्लव की कतिपय न न्यूनताओं के कारण उसका अन्त उतना प्रभावशाली न रह पाया जितना उसका प्रारंभ रहा। अर्थात् अन्ततोगत्वा वह असफल रहा। उसकी असफलता के अनेक कारणों में एक ओर भारतीय पक्ष में पारस्परिक कलह, आभ्यन्तर मतवैभिन्य, असहयोग, सुनियोजित संचालन का अभाव एवं वैयक्तिक स्वार्थ प्रमुख रहे, तो दूसरी ओर अंग्रेजों की राष्ट्रीय निष्ठा, सफल संचालन शक्ति एवं कूटनीति रही

जिसके परिणाम स्वरूप उनकी ज्वलंत विजय हुई। यद्यपि बाहरी परिणाम के रूप में यह अवश्य दब गया, तथापि लोगों में भीतर-भीतर उसकी आग अवश्य जलती रही जो समय पाकर सन् १८६०-६२ ई० में बंगाल में नील उगाने वाले कृषकों के विद्रोह के रूप में प्रस्फुटित हुई। इसे भी बलात् बुझा दिया गया।

सन् '५७ के उक्त विप्लव के परिणाम स्वरूप बहुत बड़ा परिवर्तन यह हुआ कि भारत में से कंपनी सरकार समाप्त हुई और उसके स्थान पर इंगलैण्ड की महाराणी विक्टोरिया ने भारत का आधिपत्य स्वीकार कर सम्राज्ञी के रूप में भारत की शासन व्यवस्था हस्तगत की। इधर भारतीय जन-समाज के लिए वह अपने भविष्यकालीन स्वप्नों को साकार करने के लिए प्रेरणा स्रोत बन गया। साथ ही ब्रिटिश शासकों को अत्यधिक सावधान होकर शासन करने का उपदेश मिला। विप्लव ने राष्ट्रीय जागरण के लिए बीजवपन का कार्य किया। हम जानते हैं कि कोई भी क्रांति असंतोष के धरातल पर आधृत होकर पल्लवित होती है। विप्लवकालीन असंतोष की आग भीतर-भीतर अनवरत जलती रही जो राष्ट्रीय जागरण के लिए कारणभूत हुई। राष्ट्रीय चेतना की जागृति के त्रिविध प्रेरणा स्रोत निम्नांकित हैं :-

१- ब्रिटिश सरकार की प्रशासकीय नीति।
२- शिक्षा एवं साहित्य का प्रसारण।
३- प्रेस एवं पत्रकारिता।
४- ब्रिटिशों की रंगभेद एवं धर्मभेद नीति।
५- १६ वीं सदी का उत्तरार्द्धकालीन पुनरुत्थानवादी धार्मिक एवं सामाजिक आंदोलन आदि। (सांस्कृतिक पुनर्जागरण)

राष्ट्रीय जागरण को भलीभांति समझने के लिए उक्त प्रेरणा स्रोतों का संक्षेप में अध्ययन करना आवश्यक प्रतीत होता है। -----

(१) <u>प्रशासकीय नीति :</u>

थॉम्पसन एवं गैरेट के अनुसार विप्लव के परिणाम स्वरूप ब्रिटिश सरकार को

शीघ्र ही भारतीय प्रशासन व्यवस्था पुनर्गठित करनी पड़ी । फलतः भारत में - संवैधानिक प्रगति का युग प्रारंभ हुआ ।[२८] सरकार को १८६१ ई० में 'इण्डियन कौंसिल एक्ट' पारित करना पड़ा जिससे भारतीयों को सर्वप्रथम लेजिस्लेटिव कौंसिल में उपस्थित रहकर परामर्श करने का सुअवसर प्राप्त हुआ । यद्यपि इसमें उच्चवर्गीय भारतीयों को ही स्थान मिलता था तथा उनकी सदस्य संख्या भी बहुत कम थी तथापि इससे भारतीयों के लिए सरकार की प्रशासकीय नीति के विरुद्ध आवाज उठाने का मार्ग प्रशस्त हुआ जिसका दूरगामी परिणाम यह हुआ कि १८९२ ई० के कानून में सरकार को चुनाव का सिद्धान्त स्वीकार करना पड़ा जिससे सामान्य वर्ग के प्रतिनिधियों को भी कौंसिल में स्थान मिलने लगा । भारत के गवर्नर जनरल के रूप में नियुक्त होने पर लोर्ड मेयो ने भारत में सर्वप्रथम जनसंख्या के परिगणन का कार्य कराया जिससे उसे जनता की आर्थिक, सामाजिक एवं शैक्षिक स्थिति का वास्तविक खयाल आया । तदर्थ उसने प्राथमिक शिक्षा एवं स्थानिक स्वराज्य के विकास का आग्रह रखा । उसकी ऐसी उदारतापूर्ण नीति से राष्ट्रीय भावना परिपुष्ट हुई ।

लोर्ड मेयो के पश्चात लोर्ड लिटन के शासनकालांतर्गत एक ओर द्विवर्षीय भयंकर दुर्भिक्ष आया जिसमें उसने जनता को सामयिक सहायता न दी, दूसरी ओर महाराणी विक्टोरिया के भारत की साम्राज्ञी बनने के उपलक्ष्य में दिल्ली में वैभवपूर्ण कार्यक्रम का आयोजन कर उसने अपार धनराशि का दुर्व्यय किया । इस तरह अकाल पीड़ित जनता के प्रति हमदर्दी रखने की अपेक्षा विलासपूर्ण आर्थिक दुर्व्यय के कारण वह जन समाज में अप्रिय हो गया । इसके अतिरिक्त भारतीय जनता के लिए शस्त्रबंधी एवं 'वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट' के कानून पारित करने पर उसमें असंतोष की अभिवृद्धि हुई । इधर दोनों अफघान-विग्रहों के समय ब्रिटिश सरकार की आपखुद एवं अन्यायपूर्ण नीति की भारतीय वर्तमान पत्रों ने कटु आलोचना की । विग्रहों के दौरान अफगानियों ने जो वीरता एवं राष्ट्रीय ऐक्य का प्रदर्शन किया उससे उनकी स्वातंत्र्यप्रियता के प्रति भारतीयों के मानस पर अमिट छाप अंकित हुई। इस तरह लोर्ड लिटन के द्वारा

विकसमान भारतीय राष्ट्रीय चेतना को कुंठित करने के लिये किये गये सभी प्रयत्नों में उसे असफलता मिली । इतना ही नहीं वह असंतोष की आग में उत्तरोत्तर - बढ़ती चली गई ।

उदारचेता एवं दूरदर्शी लोर्ड रिपन ने भारत में आते ही भलीभांति समझ लिया कि भारतीय जन -समुदाय में सरकार के प्रति आक्रोश की भावना विद्यमान है । उसने अपने चतुर्वर्षीय शासनकालांतर्गत कुछ ऐसी व्यवस्था की जिससे भारतीयों के आक्रोश की मात्रा कुछ कम हो, किन्तु इसके साथ-साथ उनकी राष्ट्रीय चेतना और परिपुष्ट होती गई क्योंकि उसने स्थानीय स्वराज्य, शिक्षा विकास, न्यायतंत्र, अर्थतंत्र इत्यादि क्षेत्रों में आवश्यक परिवर्तन एवं सुधार कर गणतंत्रीय प्रक्रिया को जन्म दिया। स्थानीय स्वराज्य का विकास होने पर वल्लभभाई पटेल, जवाहरलाल नेहरू, राजेन्द्रप्रसाद प्रभृति नेताओं का नेतृत्व ~~प्रसन्न~~ प्राप्त होने की सुविधा उत्पन्न हुई । रिपन ने अफगान विग्रह बंध कराया तथा वर्तमान पत्रों का नियंत्रण उठा लिया । १८८२ ई० में आवश्यक परिवर्तन करते हुए उसने अर्थतंत्र को विकेन्द्रित कर दिया जिससे प्रांतीय स्वायत्तता विकसित हुई। इसका दूरगामी परिणाम १९१९ तथा १९३५ ई० के कानून में दृष्टिगत हुआ । इसके अतिरिक्त `इल्बर्ट बील` के रूप में कानून पारित करते हुए उसने भारतीय न्यायाधीशों को युरोपियन गुनहगारों पर भी काम चलाने का अधिकार प्रदान किया । इसका तात्कालिक परिणाम यह आया कि पहली बार कलकत्ता की मुख्य अदालत के प्रमुख न्यायाधीश के रूप में रमेशचन्द्र दत्त की नियुक्ति हुई। यद्यपि भारतीय अंग्रेजों के संगठित विरोध के वशीभूत होकर मूल कानून में उसे आवश्यक परिवर्तन कराना पड़ा, किन्तु इससे भारतीयों को संघ-शक्ति का परिचय हो गया । उन्हें यह प्रतीत हुआ कि राष्ट्रीयता के विकास के लिए सार्वभौमिक संगठन की आवश्यकता है । इधर श्री सुरेन्द्रनाथ बेनरजी के ~~नतृत्व~~ नेतृत्व में `इंडियन एसोसियेशन` के द्वारा आई०सी०एस०की परीक्षा की वयमर्यादा २१ वर्ष की रखने के उपलक्ष्य में विरोध प्रदर्शित किया गया जिसे सरकार को स्वीकार भी करना पड़ा । संघ-शक्ति का यह परिणाम देखकर प्रबुद्ध भारतीयों को भारतीय स्तर

पर राजनीतिक संगठन की आवश्यकता का अनुभव होने लगा । यद्यपि प्रादेशिक स्तर पर ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध आंदोलन चलानेवाली कतिपय संस्थाएं बम्बई, कलकत्ता, मद्रास, पूना आदि स्थानों में स्थापित हो चुकी थीं ।

राष्ट्रीय महासभा की स्थापना :

एक ओर अंग्रेज सरकार की अन्याय व पक्षपातपूर्ण रीति-नीतियाँ तथा दूसरी ओर भारतीय जनता की प्रवर्धमान राष्ट्रीय चेतना के परिणाम स्वरूप २८ दिसम्बर १८८५ ई० में बंबई के सर गोकुलदास तेजपाल संस्कृत कालेज के विशाल कक्ष में 'राष्ट्रीय महासभा' की विधिवत् स्थापना हुई जिसमें विभिन्न प्रदेशों के ७२ प्रतिनिधि उपस्थित रहे थे । व्योमेशचंद्र बेनरजी की अध्यक्षता में जो नौ प्रस्ताव पारित हुए उनमें तीसरे प्रस्ताव में प्रजातांत्रिक परिपाटी पर कुछ मांगें की गईं थीं । राष्ट्रीय महासभा की स्थापना के उक्त कारणों के अतिरिक्त उसके प्रेरणास्रोत मी० एलन आक्टेवियन ह्यूम नामक अंग्रेज अफसर थे जिन्होंने प्रवर्तमान विस्फोटक परिस्थितियों को संयमित करना(Safty Valve) उचित समझा ।[२६] यद्यपि महासभा की एक भी मांग सरकार ने स्वीकार नहीं की तथापि इतना अवश्य कहा जा सकता है कि महासभा के प्रथम अधिवेशन ने भारतीयों के राजनीतिक जागरण में गति प्रदान की । विविध जाति के अध्यक्षों को चुनकर यद्यपि महासभा ने औदार्य प्रदर्शित किया ही था, तथापि अंग्रेजों की भेदनीति(फूट डालो और राज्य करो) के कारण हिन्दू-मुसलमानों में जो विद्वेष पैदा हो रहा था उसे निर्मूल करने के उद्देश्य से इलाहाबाद के अधिवेशन में हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य को प्रोत्साहित करनेवाला प्रस्ताव पारित किया गया। महासभा के परिश्रम के परिपाक रूप में १८९२ ई० में 'इण्डियन काउन्सिल एक्ट' स्वीकार किया गया । इससे संतुष्ट होकर महासभा ने अपनी पुरानी मांगों के लिए प्रार्थना की नीति ही जारी रखी । किन्तु बालगंगाधर तिलक, विपिनचंद्र पाल, अरविंद घोष प्रभृति उग्रमतवादियों ने इस नीति का विरोध प्रदर्शित किया ।

बंग भंग और स्वदेशी आंदोलन :

इधर लोर्ड कर्जन ने भारतीय गवर्नर के रूप में सुधारवादी नीति अपनाते हुए घोषित किया कि प्रशासकीय सुचारुता एवं सुविधा के उद्देश्य से बंग-भंग किया जा रहा है, किन्तु इसमें सन्निहित उसकी कूटिल नीति को समझने में प्रबुद्ध जन-समाज को देर न लगी। वस्तुत: बंगभंग के द्वारा हिन्दू- मुस्लिम ऐक्य को तोड़ने का व्यवस्थित प्रयोग किया गया था।[30] सर्वप्रथम बंगाल की प्रजा ने और तत्पश्चात् प्राय: समस्त भारत की प्रजा ने उसका प्रचंड विरोध किया। एक ओर प्रजाजनों के द्वारा इसके प्रतिकार में सभा-जुलूसों का कार्यक्रम आयोजित किया गया, तो दूसरी ओर अंग्रेज सरकार व ब्रिटिश सरकार ने इस आंदोलन की उपेक्षा की। तदर्थ राष्ट्रवाद का शीघ्र विकास हुआ। मी० गुप्ता के मतानुसार `कर्जन के निजी अन्यायपूर्ण निर्णय के कारण भारतीय राष्ट्रवाद जितना जागृत और संगठित बना उतना हिंद के किसी अन्य गवर्नर के शासनकालांतर्गत नहीं हुआ। इसी कारण महान राष्ट्रीय-संघर्ष की नींव डाली और उसी के हाथों इस तरह भारत के राष्ट्रीय जीवन का श्रीगणेश हुआ।`[31] इसी के साथ स्वदेशी आंदोलन भी प्रारंभ हुआ जिसके तीन प्रमुख लक्ष्य थे : १- बहिष्कार, २- स्वदेशी चीज-वस्तुओं का आग्रह और ३- राष्ट्रीय शिक्षा। इनकी पूर्ति के संदर्भ में समस्त बंगाल में ब्रिटिश वस्त्रों एवं अन्य चीज वस्तुओं का बहिष्कार करते हुए उनकी जगह-जगह होलियां जलाई गईं। साथ ही स्वदेशी चीज वस्तुओं का उत्पादन एवं उसी का इस्तेमाल करने की मांग भी उभरने लगी। `बंदे मातरम्` गीत इस आंदोलन का प्रमुख प्रतीक बना।

शनै: शनै: आंदोलन राष्ट्रव्यापी बनते हुए संयुक्त प्रांत, मध्यप्रदेश, पंजाब, बम्बई, मद्रास आदि प्रदेशों में विस्तृत हो गया। `तिलक` तथा `प्रांजपे` के नेतृत्व में इस आंदोलन को प्रवेग मिला। उक्त आंदोलन के कतिपय तात्कालिक और दूरगामी परिणाम परिलक्षित हुए। बंगाल की आर्थिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक एकता अधिक दृढ़िभूत हुई। बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय तथा रवीन्द्रनाथ ठाकुर जैसे साहित्यकारों

ने राष्ट्रीय साहित्य का प्रणयन कर बंगाल की एकता तथा राष्ट्रीय भावना को परिपुष्ट किया । अब 'महासभा' की प्रार्थना की नीति में भी परिवर्तन आ गया ।

आत्यंतिक राष्ट्रवाद :

स्वदेशी आंदोलन के परिणाम स्वरूप उग्रतावादी विचारों को प्राधान्य मिलने लगा । अर्थात् सन् १९०५ ई० से १९२० ई० तक आत्यंतिक राष्ट्रवाद का युग अस्तित्व में आया । इस समयावधि के दौरान आत्यंतिक राष्ट्रवाद के प्रचार में लोकमान्य तिलक, विपिनचंद्र पाल, लाला लजपतराय, अरविंद घोष प्रभृति राष्ट्र भक्तों ने महत्वपूर्ण योगदान दिया । सरकार के विरुद्ध बहिष्कार एवं असहयोग का व्यवस्थित बोध सर्वप्रथम 'स्वदेशी आंदोलन' ने प्रदत्त किया जिसके परिणाम स्वरूप गांधी जी १९२१ ई० के 'असहयोग आंदोलन', १९३०-३१ के 'सविनय भंग' आंदोलन तथा १९४२ ई० के 'भारत छोडो ' आंदोलन द्वारा जनता को राष्ट्र के लिए सर्वस्व त्याग करने को बड़ी सफलता के साथ समझा सके । उक्त आंदोलन ने सुषुप्त राष्ट्रवाद को जागृत कर उसे क्रियाशील बनाया । स्वयं गांधी जी ने प्रस्तुत आंदोलन के प्रभाव का वर्णन करते हुए १९०८ ई० में लिखा कि 'बंगभंग के बाद देश में सच्चे अर्थ में जागृति हुई और बंगभंग एक दिन ब्रिटिश साम्राज्य का भंग बनकर रहेगा । यह आंदोलन वास्तव में 'स्वराज्य' के लिए आंदोलन कहा जायेगा । इससे लोगों को किसी भी प्रकार की यातना को सहन करने का उपदेश दिया । इसने स्वराज्य के लिए किये जानेवाले अपने भावी आंदोलनों को बहुत बड़ा संबल प्राप्त होगा ।[३२] ब्रिटिश संसद सदस्य मी० चिरोल ने भी कहा कि 'स्वदेशी आंदोलन' प्रारंभ होने के पश्चात बंगभंग का प्रश्न गौण हो गया किन्तु बंगाल तथा भारत में ब्रिटिश शासन चालू रहना चाहिए या नहीं यह प्रश्न प्रमुख बन गया ।[३३] वील डुरन्ट ने भी कहा कि 'भारतीय क्रांति का १९०५ ई० में प्रारंभ हुआ ।'[३४]

प्रस्तुत आंदोलन को अधिक व्यापक एवं तीव्र बनाने में विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं ने बहुत बड़ा योगदान दिया । इस संदर्भ में परवर्ती पृष्ठों में सविस्तर कहा जाएगा । आंदोलन की तीव्रता को कम करने के लिए सरकार ने हिन्दू- मुस्लिम ऐक्य को विभाजित करने की अपनी नीति जारी रखी । फलत: ३० दिसम्बर १९०६ ई० में 'अखिल हिंद मुस्लिम लीग' की स्थापना हुई । लीग के विभिन्न प्रतिनिधियों ने 'लीग' के ध्येयों को स्पष्टता करते हुए कहा कि 'राष्ट्रीय महासभा' और लीग की प्रवृत्तियाँ और आशय भिन्न हैं । किन्तु दीर्घदृष्टा एक मुस्लिम नेता के कथनानुसार 'यह हिन्दू और मुस्लिम के बीच सदा के लिए विद्वेष उत्पन्न करने की सरकार की योजना कही जा सकती है । इसमें से अनेक समस्याएं उठ खड़ी होंगी जिनका समाधान करना देश के लिए अतीव कठिन होगा ।[३५] मी० मैकडोनल्ड ने भी १९११ ई० में लिखा कि 'कुछ मुस्लिम नेताओं को यही प्रतीति हुई कि वे ब्रिटिश शासकों की 'विभाजन करो और राज्य करो' की नीति के शिकार बने हैं ।'[३६]

इधर एक ओर 'मुस्लिम लीग' की स्थापना के परिणाम स्वरूप कोमवाद को शासकों की ओर से प्रश्रय मिल रहा था तब दूसरी ओर 'राष्ट्रीय महासभा' के प्रतिनिधियों की द्विविध चिंतन प्रणाली उग्र स्वरूप धारण कर रही थी । तिलक के नेतृत्व में उग्रमतवादी प्रतिनिधि यह साग्रह मानते थे कि 'बहिष्कार एवं स्वदेशी आंदोलन' को महासभा के द्वारा सक्रिय सहयोग दिया जाना चाहिए । किन्तु उदारमतवादी (विनम्रतावादी) गोखले जी के नेतृत्व में अधिकांश प्रतिनिधियों ने 'मोर्ले' के द्वारा सूचित सुधार पर विश्वास रखते हुए अपनी पुरानी प्रार्थनावादी एवं संसदीय प्रस्तावों की नीति पर ही चलने का आग्रह रखा । फलत: दिसम्बर १९०७ ई० में सूरत के अधिवेशन में उभय पक्षों में अत्यधिक संघर्ष हुआ । परिणाम यह आया कि 'राष्ट्रीय महासभा' दो भागों में विभाजित हो गई और अधिवेशन स्थगित हो गया । सरकार ने शीघ्र ही इस परिस्थिति का लाभ उठाते हुए उदारमतवादियों एवं कोमवादियों को संतुष्ट करने के आशय से 'मोर्ले-मिन्टो-सुधार' की योजना तैयार की । जबकि दूसरी ओर उग्र राष्ट्रवादियों पर सितम गुजारे । तिलकादि

उग्रमतवादियों के विचारों का युवक वर्ग पर अधिक प्रभाव पडने लगा । परिणामत: देश में हिंसात्मक वातावरण बढता गया । सरकार ने परिस्थिति का लाभ उठाते हुए अपनी दमन नीति को तीव्रतर किया । बिपिनचंद्र पाल पर `हिंसात्मक प्रवृत्तियों के उत्तेजक` का आरोप लगाकर उन्हें जेल में भेज दिया । बाल गंगाधर तिलक को छ: वर्षीय कारावास का सख्त दंड देते हुए `मांडले` भेज दिया तथा लाला लजपतराय, अजित सिंह आदि का देश निकाला किया । खुदीराम बोस को तो फांसी के फंदे पर लटका दिया । अरविंद घोष को भी पकड़ लिया जाय उसके पूर्व वे किसी भी तरह भाग निकले जिन्होंने कुछ समय बाद राजनीति से क्षेत्र सन्यास लेते हुए पांडीचेरी में अरविंद आश्रम की स्थापना की । इस तरह सरकार ने लाल, बाल और पाल की त्रिपुटी को तथा अन्य उग्रतावादी नेताओं को एक दूसरे से पृथक कर दिया। जिससे विरोध कुछ कम हो सके । किन्तु प्रजामानस में सरकारी दमननीति के प्रति असंतोष बढता ही गया और `आत्यंतिक राष्ट्रवाद` का दिन प्रतिदिन अधिकाधिक प्रसार होता गया । इधर गोखले जी का १९१५ ई० में निधन हो जाने पर उदारमत-वादियों का युग प्राय: समाप्त हो गया ।

महाराष्ट्र में क्रांति :

भारत में से ब्रिटिश शासन का उन्मूलन करने के सुस्पष्ट उद्देश्य से सर्वप्रथम क्रांतिकारी संस्था स्थापित करने का श्रेय महाराष्ट्र निवासी क्रांतिवीर वासुदेव बलवंत फड़के को प्राप्त होता है जिसने फरवरी १८७९ ई० में ऐसी गुप्त क्रांतिकारी संस्था की स्थापना की थी । यद्यपि उसके सिद्धान्त एवं प्रणालियां कुछ त्रुटिपूर्ण थीं तथापि ऐसी संस्थाओं के द्वारा आत्यंतिक राष्ट्रवाद का श्रीगणेश इसी वीर के द्वारा हुआ । तत्पश्चात् चापेकर भाइयों ने इस दिशा में महत्वपूर्ण योगदान दिया । १८९६-९७ ई० में प्लेग कमिश्नर मी० रेंड की हत्या करने के आरोप में चापेकर भाइयों को फांसी दी गई । उनकी शहादत के पश्चात् क्रांतिवीर विनायक दामोदर सावरकर ने १९०० ई० में नासिक में `मित्र मेला` नामक क्रांतिकारी

संस्था की स्थापना की जिसका उद्देश्य आवश्यक पड़ने पर हिंसात्मक विद्रोह के द्वारा भी भारत की स्वाधीनता प्राप्त करने का था। १९०४ ई० में इसी संस्था का पूना में `अभिनव भारत` के नाम से नवनिर्माण हुआ। सावरकरजी के लंदन जाने के पश्चात् भी यह संस्था शिवा जी तथा गणपति उत्सवों के द्वारा क्रांतिकारी प्रवृत्तियों का प्रचार करती रही। इसके उपरांत महाराष्ट्र के कई शहरों में अन्य संस्थाएं भी स्थापित हुईं। सरकार ने इन क्रांतिकारी संस्थाओं के प्रणेता तिलक जी को १९०८ ई० में छः साल का कारावास घोषित करते हुए मांडले संप्रेषित कर दिया जिससे आंदोलन में गति आई। किन्तु अधिकांश क्रान्तिवीर पुलिस द्वारा पकड़े गये और बम, शस्त्र आदि नष्ट हो जाने के कारण यह प्रवृत्ति प्रायः मंद पड़ गई।

इसी समय कलकत्ता में पी० मित्र के नेतृत्व में `अनुशीलन समिति` नामक संस्था की स्थापना हुई जिसके अधिकांश सदस्य विद्यार्थी एवं युवक थे। इसमें सभी सदस्यों को सुरक्षा के लिए शस्त्रों की तालीम दी जाती थी और प्रसिद्ध नेता उन्हें देशभक्ति तथा राष्ट्रीय भावनायुक्त व्याख्यान देते थे। उक्त समिति ने क्रांतिकारी साहित्य तथा `युगान्तर` पत्रिका द्वारा आत्यंतिक राष्ट्रवाद का पर्याप्त प्रसार किया। समिति द्वारा प्रकाशित `भवानी मंदिर` की कथा बंकिमचंद्र कृत `आनंदमठ` की कथावस्तु पर आधारित थी। `युगान्तर` ने तो १९०६ ई० में अंग्रेज राज्य के विरुद्ध `सशस्त्र विद्रोह` की घोषणा भी की। फलतः पूर्व बंगाल के उप-गवर्नर सर बेमफिल्ड फूलर पर प्रफुल्लराय चाकी ने बम डाला किन्तु वह असफल रहा। पुलिस ने उसे पकड़ना चाहा किन्तु उसने आत्महत्या कर ली। खुदीराम बोस पकड़े गये और उन्हें १९०८ ई० में फांसी दी गई। अरविंद घोष के लघुबंधु बारीन्द्र घोष के नेतृत्व में कलकत्ता में उक्त समिति के द्वारा जब तक १९११ ई० में बंगभंग का कानून वापस नहीं खींच लिया गया तब तक क्रांतिकारी हिंसक प्रयोग जारी रहे।

<u>पंजाब में क्रांति :</u>

महाराष्ट्र और बंगाल के उपरान्त पंजाब में भी १९०४ ई० में सहारनपुर

तथा रुड़की जिलों में ऐसी क्रांतिकारी संस्थाओं की स्थापना हुई जिनके नेता हरदयाल, अजीतसिंह तथा सूफी अंबाप्रसाद थे। उन्हें लाला लजपतराय से प्रेरणा प्राप्त होती थी। १६०७ ई० में सिंचाई तथा महसूल की आकस्मिक कर-वृद्धि ने इस प्रवृत्ति को अधिक उत्तेजित किया। हरदयाल और अजीतसिंह सरकार के आरोप के कारण विदेश चले गये। अत: यह प्रवृत्ति शिथिल हो गई। धीरे-धीरे यह प्रवृत्ति बिहार, उड़िया, राजस्थान तथा सुदूर दक्षिण भारत तक विस्तृत हो गई। किन्तु सरकार की ~~उस~~ असह्य दमननीति के परिणाम स्वरूप इन क्रांतिकारियों के पकड़े जाने से यह प्रवृत्ति मंद होती गई।

विदेशों में भारतीय क्रांति :

विदेशों में विशेषकर इंगलैण्ड, यूरोप तथा अमेरिका में भी ऐसी क्रांतिकारी प्रवृत्तियां भारतीयों के द्वारा चलाई गईं और उनके प्रयास से भारतीय अंग्रेज सरकार की स्वार्थी एवं अन्यायपूर्ण नीतियों की पोलें विदेश में खुल गईं। दादाभाई नवरोजी, श्याम जी कृष्ण वर्मा आदि ने इसमें महत्वपूर्ण योगदान दिया। श्यामजी वर्मा के सहायक विनायक सावरकर, हरदयाल, मदनलाल ढींगरा, सरदार सिंग राणा तथा मैडम कामा जैसे क्रांतिकारी वीर थे। सूचित 'मोर्ले मिन्टो सुधार' कौमवाद को उत्तेजित करता था तथा भारत के लिए अपमान जन्य था ऐसा कहकर श्यामजी ने लंडन में प्रचंड विरोध किया तथा उन्होंने 'इंडियन सोसियोलोजिस्ट' पत्रिका में भी उसकी बड़ी भारी समीक्षा की। लंडन से श्याम जी तथा राणा को निर्वासित कर देने से 'इंडियन हाउस' तथा 'इंडियन सोसायटी' का पूर्ण उत्तरदायित्व वीर सावरकर पर आ पड़ा। उन्होंने बड़ा उत्सव मनाते हुए सन् १८५७ ई० के विप्लव को 'भारतीय प्रथम स्वातंत्र्य संग्राम' के रूप में घोषित किया। मदनलाल ढींगरा ने 'विली' नामक अंग्रेज की लंडन की एक सभा में ही हत्या की। अत: उसे फांसी

दी गई । इधर सावरकर को भी पकड़ लिया गया जिनको भारत भेजकर उन पर कानूनी कार्यवाही ~~कर-ब~~ की गई और हमेशा के लिए उन्हें आंदामान भेजा गया । तत्पश्चात् लंडन की भारतीय क्रांतिकारी प्रवृत्तियां प्राय: समाप्त हो गईं।

१९ वीं शताब्दी के अंतिम चरण तथा २० वीं शताब्दी के प्रारंभिक चरण में कतिपय पंजाबी किसान भारतीय अंग्रेजों की असह्य कर डालने की नीति के कारण संत्रस्त होकर अमेरिका (यू एस ए) में निवास करने लगे थे । वे विविध कारखानों में काम करते थे । रंगभेद तथा जातिभेद की नीति के कारण अमेरिकन कारीगरों के वे विरोधी बने और उनसे अन्याय होने लगा । भारत, लंडन तथा पेरिस की क्रांतिकारी प्रवृत्तियों ने उनमें हिम्मत उत्पन्न कर दी । श्याम जी वर्मा, मैडम कामा आदि नेताओं से उन्हें प्रेरणा मिली । 'इण्डियन सोस्योलोजिस्ट' तथा 'वंदेमातरम्' के वीरतापूर्ण लेखों से भी वे प्रभावित हुए । फलत: तारकनाथ दास और उनके साथियों ने मिलकर केलिफोर्निया में १९०७ ई० में 'इण्डियन इण्डिपेन्डेन्स लीग' की स्थापना की । १९०८ ई० में उन्होंने 'धी फ्री हिन्दुस्तान' नामक पत्रिका भी प्रकाशित की । १९१३ ई० में हरदयाल के इस संस्था में संलग्न होने के कारण इसमें नवीन चेतना का प्रारंभ हुआ । उन्होंने संस्था का नाम परिवर्तन कर उसका 'गदर पक्ष' नाम रखा, सोहन सिंह जिसके प्रमुख और हरदयाल जिसके मंत्री नियुक्त हुए । उनके नेतृत्व में 'गदर' (विप्लव, विद्रोह) साप्ताहिक अंग्रेजी, उर्दू, मराठी तथा गुरुमुखी भाषाओं में प्रसिद्ध होने लगा। 'गदर' का प्रमुख उद्देश्य भारत— में से ब्रिटिश शासन को दूर कर उसके स्थान में भारतीय प्रजासत्ताक शासन स्थापित करने का था । 'गदर' साप्ताहिक के प्रत्येक अंक में यह बलपूर्वक घोषित किया जाता था कि गुलामी के कारण ही भारतीयों को देश-विदेश में अपमानित होना पड़ता था ।

सरकार की राजनीतिक पराजय :

इधर भारत में आत्यंतिक राष्ट्रवाद एवं क्रांतिकारी प्रवृत्तियों के विकास के

कारण ब्रिटिशों के खिलाफ वातावरण बहुत बिगड़ चुका था । विवश होकर सरकार को १५ नवम्बर १६०६ ई० में मोर्ले-मिन्टो सुधार के द्वारा संसदीय सरकार का प्रस्ताव पारित करना पड़ा जिससे विरोध कुछ कम हो सके । किन्तु उसका उद्देश्य उदारमतवादियों को अपने भक्त बनाये रखने, कौमवाद और वर्ग-विग्रह को उत्तेजित करते हुए तथा उग्रमतावादियों को राजनीति से अलग कर देने के स्वार्थी एवं अन्यायपूर्ण दृष्टिकोण से परिपूर्ण था अत: वह असफल रहा । सुधार में `उत्तरदायी राजतंत्र` का निर्देश न होने के कारण क्रांतिकारियों ने अधिक उग्रता से सरकार का विरोध किया । यहां तक कि सुरेन्द्रनाथ बेनरजी, फिरोजशाह मेहता आदि उदारमतवादियों ने भी इसकी समीक्षा की । शिक्षित जनसमुदाय कौमवाद और वर्गविग्रह के विरोध में अधिक संगठित हुआ । फलत: सरकार को तुष्टि नीति को अपनाना पड़ा । लोर्ड हार्डिंज तथा लोर्ड क्रेव के सुझावों को मान्य करते हुए १६११ ई० में बंगभंग का कानून रद्द करके समग्र बंगाल को एक ही प्रांत के रूप घोषित करना पड़ा और तबसे दिल्ली को राजधानी का केन्द्र स्वीकार किया गया।

इधर प्रथम विश्वयुद्ध में भारतीय सिपाहियों को भी अंग्रेजों की ओर से संलग्न होना पड़ा था । राष्ट्रीय महासभा के उदारमतवादियों, राजा-महाराजा तथा अधिकारी वर्ग ने मिलकर युद्ध के दौरान ऐसा वातावरण फैला रखा था कि भारतीय लोग सरकार को हृदयपूर्वक तथा बिना किसी बदले की भावना के सहयोग देते थे ।[३७] वस्तुत: यह अभिमत लघुमति का ही था । भारत के अधिकांश लोग ब्रिटिश सरकार को युद्ध में सहयोग देने के विरोधी थे । इसीलिए युद्ध के दौरान भी पंजाब तथा महाराष्ट्र में क्रांतिकारी आंदोलन जारी थे ।

गांधी जी ने यद्यपि प्रथम विश्वयुद्ध में ब्रिटिश सरकार को सैन्य में भारतीयों को भर्ती कराने तथा अनुदान के एकत्रीकरण में पर्याप्त सहयोग दिया था तथापि उन्होंने वायसराय को स्पष्ट सूचित किया था कि युद्ध की समाप्ति के पश्चात

ब्रिटिश सरकार हिंद को 'गृह स्वराज्य' (*Home rule*) प्रदान करेगी उस आशा के साथ वे सहयोग प्रदान कर रहे थे।'[३८] इस तरह प्रथम विश्वयुद्ध में ब्रिटिश सरकार को सहयोग देने के पीछे बदले की आकांक्षाएं अवश्य विद्यमान थीं।

१९१५ ई० में गोखले तथा फिरोजशाह मेहता के निधन के पश्चात् उदार मतवादियों का प्रचलन कम हो गया। एनी बेसेन्ट के समाधानकारी प्रयासों के परिणाम स्वरूप महासभा में अब उग्रमतवादियों को प्रवेश मिलना प्रारंभ हो गया। तिलक महाराज भी मुक्त होकर भारत में आ गये थे। तदर्थ महासभा में नवीन चेतना प्रस्फुटित हुई। 'मुस्लिम लीग' के नेताओं ने भी प्रथम विश्वयुद्ध तथा अन्य राजनीतिक परिस्थितियों के कारण ब्रिटिशों की स्वार्थपूर्ण नीति का अनुभव कर लिया था। अतएव 'राष्ट्रीय महासभा' एवं 'मुस्लिम लीग' के नेताओं में पुन: समझौता हुआ और दोनों में कुछ समय के लिए पुन: ऐक्य स्थापित हुआ। 'इसका १९१९ ई० तक के भारतीय राजनीतिक वातावरण पर बहुत बड़ा असर पड़ा। अत: राष्ट्रीय प्रवृत्तियों का शीघ्र विकास हुआ। इसी कारण 'होमरूल आंदोलन' का जन्म हुआ। इसको दबा देने के सरकार के प्रयास असफल रहे और अंत में उसे मोन्टफर्ड-सुधार प्रदान करने को विवश होना पड़ा।'[३९]

डा० एनी बेसन्ट जो भारत में 'होमरूल आंदोलन' की प्रणेता मानी जाती हैं, उन्होंने 'ध कोमनवील' एवं 'न्यु इण्डिया' जैसी पत्रिकाएं निकाल कर आंदोलन को व्यवस्थित रूप देते हुए 'होमरूल लीग' की १९१६ ई० में विधिवत स्थापना की। देखते-देखते देश के विभिन्न प्रांतों में इसकी कुछ अन्य शाखाएं भी खुल गईं। दोनों पत्रों के द्वारा उन्होंने देश भर में ऐसा वातावरण पैदा कर दिया कि 'उदारमतवादियों को भी स्वीकार करना पड़ा कि बेसेन्ट ने 'गृहस्वराज्य के लिए देश में बहुत अच्छा वातावरण उत्पन्न किया है।'[४०]

तिलक महाराज ने भी इसकी आवश्यकता और महत्ता समझकर १९१६ ई० में 'होमरूल लीग' की स्थापना की जिसमें उन्होंने कोई पद ग्रहण नहीं किया किन्तु संस्था की प्रवृत्तियों के अप्रत्यक्ष रूप से प्रमुख संचालक वे ही रहे।

उन्होंने 'मराठा' और 'कैसरी' साप्ताहिकों में बार-बार 'गृह स्वराज्य' और भारत को स्वराज्य देने के लिए निश्चित समयावधि निर्धारित करने का ब्रिटिश सरकार को अनुरोध किया। जनता को 'गृह-स्वराज्य' का वास्तविक अर्थ समझाने के उद्देश्य से देश के विभिन्न स्थलों की यात्रा की। लोगों ने उनसे प्रभावित होते हुए उन्हें 'लोकमान्य तिलक' के नाम से विभूषित किया। फलत: महासभा के लखनऊ अधिवेशन में उन्हें अभूतपूर्व सम्मान प्राप्त हुआ। उनकी विचारावली से प्रभावित होते हुए अधिकांश उदारमतवादी सदस्य उग्रमतवादी बन गये।

सरकार ने 'होमरूल-आंदोलन' से सचिंत होकर उसके दो महान नेता तिलक और बेसेन्ट के विरुद्ध कानूनी कार्यवाही करना चाहा। तिलक ने तो उसका कानूनी प्रतिकार किया अत: उन्हें निर्दोष छोड़ना पड़ा। किन्तु बेसेन्ट और उनके दो साथियों को पकड़ लिया गया और शेष साथियों को निर्वासित कर दिया।[४१]

भारत के प्राय: सभी बड़े शहरों में सभाओं और जुलूसों द्वारा इसका प्रचंड विरोध किया गया। तिलक की प्रेरणा से महासभा ने भी इसका विरोध करने और बेसेन्ट तथा उनके साथियों को तत्काल मुक्त करने का प्रस्ताव पारित किया। साथ ही हिंदियों के वास्तविक अधिकारों को स्वीकार करते हुए उसकी भी तत्काल घोषणा करने का सरकार को अनुरोध किया।[४२]

अब तो महमदअली जिन्ना और अलीभाइयों ने भी इस आंदोलन में सक्रिय सहयोग देना प्रारंभ किया। 'होमरूल लीग' ने गृह स्वराज्य एवं नेताओं की मुक्ति के

हेतु सरकार के विरुद्ध सत्याग्रह करना चाहा । `महासभा` तथा `मुस्लिम लीग` दोनों की संयुक्त सभा में यह प्रस्ताव पारित किया गया कि निजी प्रांतीय समितियों का छ: सप्ताह में अभिप्राय प्राप्त करके तदनुसार सत्याग्रह घोषित किया जाय। सर्वप्रथम मद्रास की प्रांतीय समिति ने १४ अगस्त १९१७ ई० के दिन सम्मति प्रदान करते हुए प्रतिज्ञा पत्र पर सुब्रह्मण्यम आयर जैसे निवृत्त न्यायाधीश एवं प्रसिद्ध कांग्रेस नेता ने हस्ताक्षर किये । किन्तु ऐसी विद्रोहात्मक परिस्थितियों को भलीभांति समझते हुए उसे शांत करने के उद्देश्य से सरकार की ओर से हिंदी वजीर मोन्टेग्यु को २० अगस्त १९१७ ई० को निम्नलिखित ऐतिहासिक घोषणा करनी पड़ी -
`ब्रिटिश संसदीय सरकार की हिंद के प्रति नीति है कि जिससे हिंदी सरकार भी पूर्णतया सहमत है, राजनीतिक व्यवस्था की प्रत्येक शाखा में हिंदियों का प्रमाण बढ़ाने की है और इस तरह ब्रिटिश साम्राज्य के अंतर्गत एक प्रभाग के रूप में भारत शनैः शनैः स्वायत्त संस्थाओं को विकसित करते हुए उत्तरदायी राजतंत्र प्राप्त करे यह देखने की है । इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए शीघ्रातिशीघ्र आवश्यक कदम उठाने का वह विचार करती है ।`[४३]

इस तरह हिंद सरकार को जनता के प्रचंड विरोध के आगे झुकना पड़ा । जनता ने भी इसकी कद्र करते हुए विशेषकर मद्रास की प्रांतीय समिति ने तुरंत ही दूसरा प्रस्ताव पारित करके सत्याग्रह का विचार स्थगित कर दिया । दोनों लीगों की संयुक्त सभा ने भी सत्याग्रह का विचार स्थगित किया । स्वयं एनी बेसेन्ट ने भी इसका समर्थन किया । किन्तु तिलक महाराज तथा युवक वर्ग को यह अनुचित लगा । तिलक जी निश्चित रूप से मानते थे कि `गृह स्वराज्य` के व्यापक आंदोलन के कारण ही सरकार को उपर्युक्त घोषणा करनी पड़ी है अत: उन्होंने `गृह स्वराज्य` आंदोलन जारी रखा । जिसमें महमदअली जिन्ना तथा अन्य अलीभाइयों ने सहयोग देना चालू रखा ।

महासभा के दिसम्बर १९१७ के कलकत्ता अधिवेशन के प्रमुख एनीबेसेन्ट ने घोषित

किया कि ब्रिटिश सरकार को १९२३ में या अधिक से अधिक १९२८ ई० तक में हिंद को 'गृह स्वराज्य' प्रदान कर ही देना चाहिए । तिलक महाराज के शब्दों का पुनरुच्चारण करते हुए उन्होंने कहा कि स्वातंत्र्य प्राप्ति प्रत्येक प्रजा का जन्मसिद्ध अधिकार है ।

तिलक के मंतव्यानुसार गृह स्वराज्य आंदोलन की सफलता के हेतु हिंदु-मुस्लिम ऐक्य परम आवश्यक था । बहुत बड़ी संख्या में मुस्लिम इसमें संलग्न हुए यह 'होमरूल लीग' की महत्वपूर्ण सिद्धि मानी जाएगी ।'[४४]

सरकार की दमननीति के विरुद्ध सामूहिक रूप में अहिंसक सत्याग्रह का मार्ग ग्रहण करने का सूचन सर्वप्रथम तिलक जी की ओर से हुआ । तत्कालीन परिस्थितियों के वशीभूत होते हुए उसे कार्यान्वित न किया गया किन्तु गांधी जी ने बाद में इस अहिंसक शस्त्र का सरकार के विरुद्ध अच्छा उपयोग किया । इस तरह गांधी जी की सत्याग्रही लडाई के विचार का श्रेय तिलक महाराज को मिलना चाहिए, क्योंकि तिलक एवं उनकी 'होमरूल लीग' ने भारत में गांधी जी एवं गांधी युग की महासभा के लिए बहुत बड़ा मार्ग प्रशस्त किया । तिलक एवं होमरूल लीग ने भारत के सामने निस्वार्थ, निडर एवं त्यागी राष्ट्रभक्त तथा राष्ट्रभक्ति प्रदान करने का स्तुत्य उदाहरण प्रस्तुत किया । जिसका आगे चलकर गांधीयुग में व्यापक धरातल पर विकास हुआ ।

इस तरह हमने देखा कि ब्रिटिश सरकार की अन्याय व पक्षपातपूर्ण प्रशासकीय नीति के परिणाम स्वरूप राजनीतिक स्तर पर प्रभूत मात्रा में राष्ट्रीय चेतना की जागृति हुई ।

(२) शिक्षा एवं साहित्य का प्रसारण :

जिस देश का जन समाज ~~नें~~ जितना अधिक शिक्षित होगा उतना ही अधिक

वह सभ्य होगा । अपनी समस्याओं को भलीभांति समझकर उसका बुद्धिगम्य उपाय ढूंढ निकालने का वह प्रयास करेगा । किसी अन्यायपूर्ण स्थिति को वह न सहते हुए उसका उचित विरोध करेगा । भारत में भी ठीक ऐसा ही हुआ । जैसे-जैसे प्राथमिक, माध्यमिक एवं उच्चस्तरीय शिक्षा का प्रसार होता गया वैसे ही भारतीयों को अपनी पराधीनता एवं दुर्दशा का वास्तविक खयाल आता गया । शिक्षित नवयुवकों ने यह अनुभव किया कि अपने ही देश में (यूरोप में) गणतंत्रीय व्यवस्था विकसित करनेवाले अंग्रेज अपने अधीनस्थ देशों में आपखुदीपूर्ण व्यवहार करे यह असह्य है । मूलत: सरकारी कर्मचारी उत्पन्न करने के दुराशय से प्रारंभ किये हुए पाश्चात्य शिक्षा के अध्ययन-अध्यापन ने भारतीयों का राजनीतिक सामाजिक एवं धार्मिक दृष्टिकोण परिवर्तित कर दिया । राष्ट्रीय चेतना के विकास का एक महत्वपूर्ण पक्ष भारत के विभिन्न प्रदेशों में राष्ट्रीय विद्यालयों की स्थापना का है ।

अंग्रेजी के साथ-साथ भारतीय भाषाओं में भी पर्याप्त मात्रा में साहित्य का सर्जन हुआ । देश की बंगाली, मराठी, हिन्दी, गुजराती, तमील, तेलगू, मलयालम, कन्नड इत्यादि भाषाओं में लिखित उपन्यास, नाटक, काव्य आदि ने राष्ट्रीय भावनाओं को अत्यधिक परिपुष्ट किया । बंगाल में बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय लिखित 'आनंद मठ' का 'वंदेमातरम्' गीत राष्ट्रीय एकता एवं मुक्ति का प्रतीक बना । बंकिमचंद्र के अतिरिक्त बंगाल के केशवचंद्र सेन, रमेशचन्द्र दत्त, रंगलाल, हेमचन्द्र बंदोपाध्याय, ईश्वरचंद्र विद्यासागर, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, दीनबंधु मित्र प्रभृति लेखकों और कवियों ने अपनी लेखनी के द्वारा राष्ट्रीय भावना को संबल दिया । रंगलाल ने अपने काव्यों में राजपूतों की वीरता की प्रशंसा करते हुए स्वाधीनता विहीन जीवन को निरर्थक माना । रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने 'गीतांजलि' लिखकर राष्ट्रकवि का स्थान प्राप्त किया । दीनबंधु मित्र ने 'नील दर्पण' नामक नाटक लिखकर नील के खेतों में मजदूरों का जो शोषण होता था उस पर कटु व्यंग्य किये ।

मराठी लेखक श्री चिपलुणकर के निबंधों ने लोगों में नवजागृति उत्पन्न की ।

इनके निबंधों ने तो तिलक तथा आगरकर जैसे देशभक्तों को भी पर्याप्त प्रेरणा प्रदान की ।

हिंदी साहित्य ने भी इस दिशा में पर्याप्त लिखा और देश भर में राष्ट्रीयता भरने का स्तुत्य प्रयास किया । भारतेन्दु जी, मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, रामधारी सिंह दिनकर इत्यादि अनेक लेखक एवं कवियों ने प्रभूत राशि में राष्ट्रीय साहित्य का सर्जन किया । इस पर आगामी प्रकरण में सविस्तर प्रकाश डाला जाएगा ।

गुजराती साहित्य में वीर नर्मद ने 'दांडियो' पाक्षिक द्वारा गुजरात में पुनर्जागरण करने के लिए कमर कस ली । इनके अतिरिक्त दलपतराम, करसनदास मूलजी, गोवर्धनराम त्रिपाठी, दुर्गाराम मेहता, मणिभाई नभुभाई द्विवेदी प्रभृति साहित्यकारों ने सुधारवादी प्रवृत्ति को प्रगाढ़ करते हुए राष्ट्रीय-चेतना को मुखरित किया ।

इस तरह विभिन्न भाषाओं के साहित्य ने देश भर में राष्ट्रीय चेतना को जागृत करने में अत्यधिक योगदान दिया ।

(३) प्रेस एवं पत्रकारिता :

रेल, डाक तथा शिक्षा के विकास के साथ-साथ देश में प्रेस(छापखाना) का भी आविष्कार हुआ । सन् १७८० ई० में जेइम्स हीकी नामक अंग्रेज ने बंगाल में 'बैंगोल गैजेट' नामक साप्ताहिक प्रारंभ किया जिसमें उसने उच्च सरकारी अधिकारियों एवं सरकारी तंत्र की कटु आलोचना की । इसी परंपरा पर बंगाल, बंबई तथा मद्रास में पत्रकारिता का विकास हुआ । राष्ट्रीयता के विचारों का प्रचार-प्रसार तथा देश में नवजागरण लाने में इसका महत्वपूर्ण योगदान रहा है । १८५७ ई० के विप्लव के पूर्व देश के विभिन्न प्रदेशों में 'बैंगाल समाचार', 'समाचार दर्पण', 'संवाद कौमुदी',

'बंगदूत', 'धी रिफार्मर', 'मुंबई समाचार', 'बाम्बे टाइम्स', 'रास्तगुफतार', 'खानदेश वैभव', 'केसरी' इत्यादि कतिपय वर्तमान पत्र अवश्य निकलते थे और वे अंग्रेजों की नीतियों का विरोध करते रहते थे, किन्तु १८७८ ई० में जब लार्ड लिटन ने भारतीय समाचार पत्रों की स्वायत्तता को प्रतिबंधित किया तब पत्रकारिता में अत्यधिक शीघ्र गति से विकास होने लगा । राष्ट्रीय चेतना के विकास में देश भर में बंगाल ही सर्वप्रथम एवं प्रमुख प्रदेश रहा है । तदर्थ पत्रकारिता वहां अधिक मात्रा में विकसित हुई । 'हिंदू पेट्रीओट' जो १८५३ ई० में कलकत्ता से हरीशचंद्र मुखर्जी के नेतृत्व में प्रकाशित होता था, उनकी मृत्यु के उपरान्त १८६१ ई० में क्रिश्नोदास पाल, जो उसके तंत्री नियुक्त हुए, उस पत्र के द्वारा २३ वर्ष तक राष्ट्र की अनवरत सेवा करते रहे । 'इंडियन मीरर' भी इसी प्रकार राष्ट्र की सेवा करते हुए जनता में राष्ट्रीय चेतना भरता रहा। शिशिरकुमार घोष एवं मोतीलाल घोष के द्वारा प्रकाशित 'अमृत बजार' पत्रिका भी उपर्युक्त पत्रों की तरह ब्रिटिश सरकार की आपखुद एवं अन्यायपूर्ण नीतियों की कटु आलोचना करता रहा ।

बम्बई से 'केसरी' नामक मराठी दैनिक तथा 'मराठा' नामक अंग्रेजी साप्ताहिक प्रकाशित होने लगे । १८८७ ई० से उक्त दोनों पत्र लोकमान्य तिलक के हाथ से प्रकाशित होने लगे ।

मद्रास से प्रकाशित 'हिन्दू' एवं 'इण्डियन रिव्यू' नामक पत्रों ने राष्ट्रीय पत्रों के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त की ।

उपर्युक्त सभी पत्र अधिकतर शासकीय खर्च कम करने, शासन व्यवस्था में आवश्यक सुधार करने, भारतीयों को उच्चासन पर नियुक्त करने, संसदीय सरकार की रचना करने, न्यायप्रथा में आवश्यक परिवर्तन करने तथा रंगभेद की नीतियों को दूर करने के लिए ब्रिटिश सरकार के सम्मुख जनता के विचारों को प्रस्तुत करने का यत्न करते थे ।

हम जानते हैं कि पत्रकारिता जन समाज के मानस को तथा उसके चिन्तन को इप्सित लक्ष्य की पूर्ति के हेतु पूर्णतया परिवर्तन करने की क्षमता रखती है। उपर्युक्त पत्र-पत्रिकाएं ब्रिटिश-शासन के प्रति प्रतिक्रिया के रूप में प्रकाशित होती थीं। जन-समाज का ध्यान ब्रिटिश शासकों की अन्यायपूर्ण नीतियों के प्रति आकर्षित करने के महद उद्देश्य से परिपूर्ण राष्ट्रीय चेतना सम्पन्न मन: स्थिति के साथ वे निकाली जाती थीं। वस्तुत: उक्त सभी पत्र-पत्रिकाएं देश भर में राष्ट्रीय चेतना का वातावरण उत्पन्न करने के लिए किस तरह प्रयास करती थीं यह निर्दिष्ट करने के लिए कतिपय उद्धरण दृष्टव्य हैं :-

१- 'शिवाजी' ने १० अप्रैल १८७५ के अंक में लोगों को 'प्रिन्स आफ वेल्स' के आगमन पर उन्हें कैसा आचरण करना चाहिए इस सम्बंध में निम्न सलाह दी :- 'जनता को चाहिए कि अपने भावी सम्राट के आगमन पर कुछ भी खर्च न करें। यह हिज़ रायल हाइनेस से अवश्य भेंट करें। किन्तु जनता भांति-भांति के जिन कष्टों से कराह रही है उनके अतिरिक्त उनसे और कोई बात न करें। युवराज चाहे जहाँ जायँ, उन्हें शिकायतों के अतिरिक्त और कुछ नहीं सुनाई पड़ना चाहिए। इस अवसर पर किसी प्रकार का उत्सव न मनाया जाय। लोग पहले ही से गरीबी से त्रस्त हैं उन्हें फिर व्यर्थ के थोथे प्रदर्शनों पर अपनी रही सही पूंजी को लुटाकर अपने को और गरीब नहीं बनाना चाहिए।'

२- २२ अक्टूबर १८७५ ई० के अंक में 'खानदेश वैभव' ने लिखा :-

'भारत में छोटे से छोटे मामलों से लेकर राजनीतिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण बड़े से बड़े मामलों में अंग्रेज सरकार की ही तूती बोलती है। हमसे किसी भी मामले में कोई परामर्श नहीं किया जाता। यदि कहीं हमारे स्वार्थ सरकार के स्वार्थों से टकराते हैं तो हमारे स्वार्थों को पूरी तरह एक किनारे फेंक दिया जाता है और इस बात की तनिक भी चिंता नहीं की जाती कि उससे लोगों का कितना बड़ा नुकसान होगा। हम असहाय होकर लगातार प्रार्थना करते रहते हैं और वे हमें

और तुच्छ समझते हुए उनका अनादर करते थे। उन्हें अस्पृश्य भी समझते थे। गोरी प्रजा को उच्चजातीय और भारतीय प्रजा को निम्नजातीय समझकर भारतीयों को किसी भी उच्च पद पर आसीन नहीं करते थे। उन्हें सदा गुलाम बनाये रखने के उद्देश्य से तो सरकारी कर्मचारी उत्पन्न कराने की शिक्षा-प्रणाली ब्रिटिशों ने प्रारंभ की। यद्यपि शिक्षा के प्रचार-प्रसार से जैसा कि पहले कहा जा चुका है, भारतीयों को लाभ ही हुआ, तथापि शिक्षा प्रारंभ करने के पीछे उनका आशय बिल्कुल स्पष्ट था। रंगभेद उनके मस्तिष्क में प्रारंभ से ही था और संभवत: अन्त तक रहा। भारतीय स्वातंत्र्य-संग्राम का समूचा इतिहास उनकी रंगभेद की नीति का परिचायक है।

जैसे-जैसे वे भारत में सुस्थिर होते गये और शासन-व्यवस्था उनके हस्तगत होती गई, उन्होंने अन्य नीतियों के साथ-साथ धर्मभेद और धर्मपरिवर्तन की नीति भी अपनाई। ईसाई पादरियों ने मिलकर धर्म- परिवर्तन की एक व्यवस्थित योजना बनाई। उक्त योजना की दो प्रणालियां रहीं : (१) ईसाई धर्म- प्रचार और (२) भारतीय धर्म की आलोचना। प्रथम प्रणाली थी, ईसाई प्रचारकों द्वारा जन-जन में ईसाई विश्वासों के प्रति श्रद्धा जागृत करने के लिए नगर-नगर तथा ग्राम-ग्राम में ईसाई मिशनों का व्यवस्थित जाल बिछाना, ईसाई धर्म ग्रंथों का वितरण करना, लोकभाषा में हिन्दू धर्म की आलोचना के व्याख्यान देना, तथा यत्र-तत्र हिन्दू देवी-देवताओं का उपहास करना इस कार्य प्रणाली के आवश्यक अंग थे। दूसरी प्रणाली थी, मैक्समूलर, मानियर विलियम्स, ग्रिफिथ तथा विल्सन प्रभृति पाश्चात्य पंडितों का संस्कृत विषयक अनुसंधान तथा अध्ययन करना। यह अध्ययन एक सच्चे अन्वेषक या अनुसंधाता के रूप में नहीं होता था वरन् वह ईसाई ~~भर~~ मत व पूर्वाग्रह से दूषित था। इनका लक्ष्य विविध था। भारत में शासक बनकर आनेवाले अंग्रेज अधिकारियों को हिन्दू धर्म से परिचित कराना तथा भारतीय नीति-रीति को ईसाई धर्म एवं पाश्चात्य जीवन प्रणाली की तुलना में हीनतर, कुत्सित, मिथ्या एवं निकृष्ट सिद्ध करना था।

इस योजना के व्यवस्थित प्रचार-प्रसार के परिणाम स्वरूप भारत में ईसाई

धर्म की श्रेष्ठता और भारतीय धर्म की निकृष्टता एवं दोषपूर्णता का अच्छा वातावरण बन रहा था। सामान्य जनता के धर्म परिवर्तन की तो बात क्या माइकेल मधुसुदन दत्त, पादरी लालबिहारी दे, व्योमेशचन्द्र जैसे प्रबुद्ध लोग भी अपने परंपरागत धर्म का परित्याग कर 'गोस्पेल' के अनुयायी बन गये। दक्षिण में नीलकंठ शास्त्री और महाराष्ट्र की विदुषी पंडिता रामाबाई, रामतनु लाहिरी तथा प्रतापचंद्र मजूमदार जैसे लोग भी ईसाई धर्म के मोहमयी आकर्षण से अप्रभावित न रह सके। धर्म और संस्कृति के क्षेत्र में जब ऐसी संक्रांतिकालीन अवस्था उत्पन्न हो चुकी थी उस समय भारतीय धर्म, समाज एवं संस्कृति के वास्तविक स्वरूप को जन - समाज के सम्मुख प्रस्तुत करते हुए, उसके गौरवमय रूप को सुरक्षित रखने का और इस माध्यम से भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठता की घोषणा कर देश में पुनरुत्थानवादी आंदोलन जगाने का स्तुत्य कार्य कतिपय धर्म एवं समाज सुधारकों ने किया।

५-सांस्कृतिक पुनर्जागरण :(सन् १९०० ई० तक)

पूर्ववर्ती पृष्ठों में राष्ट्रीय चेतना के जागरण के विविध पक्षों पर विचार करते हुए तत्युगीन ब्रिटिश शासन कालीन विषम परिस्थितियों का विहंगावलोकन किया गया। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इसके द्वारा भारतीय जन समाज में ब्रिटिश सरकार के प्रति घृणा एवं अनादर की आवेगपूर्ण व्यथा जागृत हो सकी। एक प्रकार से राजनीतिक जागरण का वातावरण तैयार हो सका। किंतु सच्चे अर्थों में वास्तविक धरातल पर भारतीय जन समाज की आत्मा को जागृत कर उसे अपनी संकल्प-शक्ति का परिचय कराते हुए उसका सांस्कृतिक व सामाजिक पुनर्जागरण करने का महत्वपूर्ण कार्य शेष था। यह कार्य सांस्कृतिक पुनर्जागरण आंदोलन ने बड़ी सफलता के साथ पूर्ण किया। अर्थात् भारतीय जन समाज, जो अपनी अज्ञानता एवं अशिक्षा के कारण सदियों से गुलाम मनोदशा का शिकार हो गया था और स्वयं को दीन, हीन एवं अशक्त मानने लगा था, उसे 'उच्छिष्ठ कौन्तेय' जैसे

प्रेरणाप्रसूत 'गीता' के सूत्र की तरह वर्षों की कुंभकरणीय निद्रा से जगाकर उसमें नव्यतम चेतना का संचार करने का भगीरथ कार्य किया । वस्तुत: उक्त आंदोलन ने समूचे जन समाज के आत्मबल को जगाकर उसमें राष्ट्र के स्वातंत्र्य-संग्राम के लिए नवीन प्राणों का संचार किया । ऐसा करते हुए आंदोलन के सूत्रधार सुधारवादी नेताओं ने समाज में एक साथ राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक पुनर्जागरण करने की चेष्टा की । एक बार व्यक्ति की आत्मा जागृत हो जाने पर जनजीवन के समस्त पक्ष उजागर हो जाते हैं । मूल बात आत्मा की जागृति की है, जो उक्त आंदोलन ने अत्यधिक परिश्रम के साथ सिद्ध की ।

प्रस्तुत आंदोलन के प्रस्तोता राजाराम मोहन राय रहे । उनके अतिरिक्त ईश्वरचंद्र विद्यासागर, स्वामी सहजानंद, महादेव रानडे, गोपाल कृष्ण गोखले, स्वामी दयानंद सरस्वती, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानंद प्रभृति समाज-सुधारकों ने भारतीय समाज की काया पलट करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया । उक्त आंदोलन की गतिविधियों को भलीभांति समझने के लिए उन सुधारकों की मूल प्रवृत्तियों एवं विशिष्ट योगदान पर संक्षेप में विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है ।

कालक्रमानुसार विचार करने पर सांस्कृतिक पुनर्जागरण के इतिहास में 'ब्रह्म समाज' का स्थान प्रथम है । राजाराम मोहनराय के द्वारा २० अगस्त १८२८ ई० में कलकत्ता में उसकी स्थापना हुई । ब्रह्म समाज १६ वीं शताब्दी का सर्वप्रथम धार्मिक एवं सामाजिक आंदोलन था और उसके प्रस्तोता सर्वप्रथम वे व्यक्ति थे जिन्होंने भारतीय समाज एवं धर्म के दोषों को दूर करने का अधुनातम दृष्टिकोण से यत्न किया । वे एक साथ धर्म-सुधारक, समाज-सुधारक, शिक्षा-सुधारक एवं राज्य-सुधारक थे । उन्होंने मूर्तिपूजा, पशुबलि तथा बाह्याडंबर का पूर्ण विरोध किया और घोषित किया कि सामाजिक कुरिवाजों का धर्म से कोई सम्बंध नहीं है । समाज-सुधार को प्रमुख लक्ष्य बनाते हुए ब्रह्मसमाज ने एक क्रांतिकारी भूमिका तैयार की । एक ओर बाल-विवाह,

अस्पृश्यता एवं सती-प्रथा का विरोध किया गया तो दूसरी ओर विधवा-विवाह एवं अंतर जातीय विवाह का समर्थन किया गया । राजा राममोहन राय ने ही सती-प्रथा के विरुद्ध विलियम बैंटिक को १८२९ ई० में कानून बनाने की प्रेरणा दी थी जो कार्यान्वित भी हुई ।

अपने धार्मिक एवं सामाजिक विचारों को जन समाज तक संप्रेषित करने के उद्देश्य से ब्रह्म समाज ने व्याख्यान, लेख, समाचार-पत्र, स्कूल, कालेज आदि की स्थापना, धार्मिक चर्चा सभाएं आदि समस्त आधुनिक विधाओं का सफल उपयोग किया । 'संवाद कौमुदी' नामक बंगाली साप्ताहिक का राजा राममोहनराय ने प्रकाशन किया । इसके अतिरिक्त 'Indian Mirror' 'वामबोधिनी', 'तत्व कौमुदी', 'Brahmo Public Opinion' 'संजीवनी' इत्यादि समाचार-पत्र-पत्रिकाओं ने भारतीय विचारों को शिष्टता प्रदान करने का महत्वपूर्ण कार्य किया ।

सामाजिक सुधार-कार्य के उपरांत राजनीतिक कानून-सुधार में भी ब्रह्मसमाज ने उत्साह प्रदर्शित किया । स्वयं राजा राममोहन राय ने हिंदू-कानून में आवश्यक परिवर्तन के लिए स्वर उठाते हुए छापखाने के प्रतिबंधक कानून का विरोध किया । तदर्थ सुप्रिम कोर्ट तथा किंग-इन-काउन्सिल को आवेदन-पत्र संप्रेषित किया । फलतः १८३५ ई० में चार्ल्स मेडकाफ को समाचार-पत्रों का प्रतिबंधित कानून उठा लेना पड़ा । इतना ही नहीं राय ने एक ओर भारतीयों को शासन एवं सैन्य में सम्मिलित होने का भी अनुरोध किया तो दूसरी ओर न्यायालयों में फारसी की जगह पर अंग्रेजी भाषा के प्रचलन का आग्रह किया । इस तरह उन्होंने न केवल धार्मिक व सामाजिक सुधार का ही कार्य किया अपितु राजनीतिक स्तर पर भी आवश्यक सुधार कराते हुए सर्वप्रथम भारतीय राष्ट्रवाद का प्रवर्तन किया । उनके योगदान के वैशिष्ट्य पर विचार करते हुए रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने ठीक ही कहा है कि-' उन्होंने भारत में आधुनिक युग का सूत्रपात किया । उन्हें भारतीय पुनर्जागरण के जनक तथा भारतीय राष्ट्रवाद के प्रवर्तक कहा जा

सकता है ।`[४६] मी० एडमन का अभिमत भी उनका समर्थन करता है, `स्वातंत्र्य की लगन उनके अन्तरात्मा की अत्यधिक प्रबल लगन थी और यह प्रबल भावना उनके धार्मिक, सामाजिक एवं राजनीतिक कार्यों से प्रस्फुटित होती थी ।`[४७]

निष्कर्ष यह कि राजाराम मोहनराय एवं उनके ब्रह्मसमाज ने भारतीय जनजीवन में वैचारिक क्रान्ति करते हुए उसके सामाजिक , धार्मिक, राजनीतिक सभी स्तरों में भारतीय राष्ट्रीयता की चेतना जागृत करने का सर्वप्रथम प्रयास किया । वस्तुत: १८५७ ई० के प्रथम स्वातंत्र्य संग्राम के पूर्व इस समाज ने क्रांतिकारी भूमिका तैयार करते हुए स्वातंत्र्य प्राप्ति की दिशा में बीजवपन का कार्य किया । तदर्थ राव को भारतीय राष्ट्रीयवाद के जनक एवं संपोषक कहना उचित ही है । केशवचन्द्र सेन तथा ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने राजा राम मोहनराय के उक्त विविध क्षेत्रीय कार्य में यथाशक्ति योगदान देते हुए परंपरा को अक्षुण्ण रखा । उन्होंने विधवा-विवाह और स्त्री-शिक्षा को प्राधान्य दिया । १८५६ ई० में विधवा-विवाह से सम्बंधित जो कानून पारित हुआ वह उन्हीं के परिश्रम का परिणाम था ।

सांस्कृतिक पुनर्जागरण की उक्त प्रक्रिया बंगाल तक ही सीमित न रही। यह एक राष्ट्रव्यापी प्रवृत्ति बनकर रही । बंगाल के उपरान्त महाराष्ट्र में भी कतिपय सुधारक भारतीय समाज को नवचेतन प्रदान करने का यत्न कर रहे थे । उनमें महादेव गोविंद रानडे, धोंडो केशव कर्वे, विष्णु कृष्ण चिपलूणकर, गोपाल गणेश आगरकर, गोपाल कृष्ण गोखले प्रभृति प्रमुख थे । उन्होंने भी समाज-सुधार की प्रवृत्ति को महत्व देते हुए बाल-विवाह को रोकने, विधवा-विवाह को उत्तेजित करने तथा स्त्री-शिक्षा प्रदान करने के विषय में यथाशक्ति योगदान दिया । श्री रानडे १८६१ ई० में स्थापित विधवा-पुनर्विवाह की संस्था के सक्रिय कार्यकर्ता थे । उन्होंने `इण्डियन नेशनल कान्फरेन्स` की स्थापना कर प्रथम बार

समाज-सुधार -प्रवृत्ति को राष्ट्रीय स्तर पर संगठित करने का यत्न किया । वे सामाजिक एवं राजनीतिक सुधार को परंपरावलंबित मानते थे । उनका कथन, 'जब तुम राजनीतिक अधिकारों की दृष्टि से अत्यधिक निम्न स्थान रखते हो तब तुम्हारी सामाजिक रचना अतीव अच्छी हो यह अपेक्षा नहीं नहीं की जा सकती । इसके विपरीत जब तक सामाजिक रचना न्याय पर आधृत नहीं होती तब तक राजनीतिक अधिकारों को प्राप्त करने तथा उनका पालन करने योग्य तुम नहीं माने जा सकते ।[४८] किसी भी समाज सुधार का मूल लक्ष्य व्यक्ति के जीवन को मुक्त करना तथा जीवन-निर्वाह के लिए अपेक्षित साधनों को उसके लिए सुलभ बनाना होता है । अत: इसकी पूर्ति के लिए निजी मान्यता से लेकर राजनीतिक ताकत तक के सभी कानूनगत उपादानों का उपयोग करना चाहिए। वे मानते थे कि सामाजिक प्रवृत्ति को राष्ट्रव्यापी एवं विनसांप्रदायिक बनाना चाहिए[४९], उनके मत का समर्थन करता है । ब्रह्म समाज की तरह उन्होंने भी १८६७ ई० में प्रार्थना समाज की स्थापना की और उसके लक्ष्यों की पूर्ति में अपना संपूर्ण जीवन समर्पित कर दिया । श्री गोपाल कृष्ण गोखले उनके प्रबुद्ध शिष्यों में से एक थे । उनकी सहायता एवं उचित प्रेरणा से गोखले जी राजनीतिक क्षेत्र में अत्युत्तम स्थान प्राप्त कर सके । श्री रानडे ने प्रारंभ से ही राष्ट्रीय महासभा की स्थापना से सम्बद्ध रहकर राष्ट्रीय आंदोलन में यथोचित योगदान दिया । उन्होंने कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशनों के साथ-साथ समाज सुधार सम्मेलनों का सफल संचालन किया क्योंकि उनकी दृढ़ मान्यता थी कि सामाजिक उत्कर्ष के बिना राजनीतिक उत्कर्ष संभव नहीं है । श्री चिंतामणि के मतानुसार रानडे बुद्धि के भंडार, उद्यमी एवं विद्वान पुरुष थे । वे गहन विचारक एवं उत्साही देशभक्त थे । सरकारी नौकरी में अत्यधिक बाधाओं के आगे झुके बिना सोत्साह सामाजिक एवं राजनीतिक कार्य करते रहे ।[५०]

श्री रानडे के पश्चात घोंडो केशव कर्वे, गोपाल गणेश आगरकर इत्यादि ने समाज सुधार का कार्य जारी रखते हुए विशेषकर स्त्री-शिक्षा के संदर्भ में क्रमश:

एस०एन०डी०टी० कर्वे कालेज की स्थापना करके एक ओर भारत भर में महिलाओं के लिए प्रथम यूनिवर्सिटी स्थापित की, तो दूसरी ओर १८८८ ई० में 'सुधारक' पत्रिका प्रारंभ करके महिलाओं के उत्थान का कार्य किया । इस तरह प्रार्थना-समाज एवं उक्त समाज सुधारकों के द्वारा भारतीय स्तर पर समाज सुधार की प्रवृत्ति ने महत्वपूर्ण योगदान देते हुए भारतीय जनजीवन में राष्ट्रीय चेतना की जागृति का कार्य किया ।

बंगाल एवं महाराष्ट्र की तरह गुजरात के तत्युगीन समाज सुधारकों ने इस पुनर्जागरण आंदोलन में यथाशक्ति योगदान दिया । स्वामी सहजानंद जैसे धर्म प्रचारक ने भी समाज सुधार की प्रवृत्ति में अभिरुचि लेते हुए सामाजिक कुरिवाज, वहम तथा कुव्यसनों से लोगों को दूर हटाते हुए यज्ञ की हिंसा, बालहत्या तथा सती के रिवाज के विरुद्ध स्वर उठाया ।[५१] होली के त्यौहार पर महिलाओं में गाये जानेवाले कुत्सित गीतों के स्थान पर राधा एवं रूक्मीणी विवाह के गीतों की रचना कर उनके गाने का प्रबंध भी उन्होंने किया । धर्म में जातिभेद एवं वर्णाश्रम भेद को कट्टरता के साथ न मानकर निम्नवर्गीय हिन्दु-मुसलमान सभी लोगों को अपने संप्रदाय में दीक्षित करते हुए उन्हें समाज में उचित स्थान दिलाने का यत्न किया ।

स्वामी सहजानंद के उपरांत गुजरात के अन्य समाज सुधारकों में अधिकांशत: साहित्यकार, कवि, उपन्यासकार एवं नाट्यकार रहे जिन्होंने सामाजिक चेतना की जागृति के लिए साहित्य का माध्यम अपनाया । उनमें दुर्गाराम मेहता, दलपतराम, करसनदास मूलजी, लालशंकर, महिपतराय, नर्मदाशंकर, गोवर्धनराम, मणिभाई द्विवेदी प्रभृति उल्लेखनीय हैं जिन्होंने विधवा विवाह, बाल विवाह, स्त्री-शिक्षा, विदेश-गमन, ज्ञाति-बंधन आदि विषयों पर अपने सुधारवादी विचारों को मधुर शैली में जन समाज के सम्मुख प्रस्तुत किया ।

सारांश यह कि समाज सुधार के संदर्भ में जो काम ब्रह्मसमाज ने बंगाल में किया

महाराष्ट्र में प्रार्थना-समाज के द्वारा भी प्राय: वही काम किया गया। एक ओर जहां ब्रह्म समाज ने विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं के द्वारा अपने सुधारवादी विचारों को प्रसारित किया वहां दूसरी ओर प्रार्थना समाज ने 'विधवा-विवाह-संघ', 'दक्षिण-शिक्षा-परिषद्'[9] तथा 'दलितोद्धार मिशन' की स्थापना के द्वारा समाज सुधार का कार्य सुचारु रूप से किया। गुजरात ने भी अपना स्वर इस दिशा में मिलाया। विशेषकर वीर नर्मदाशंकर ने 'डांडियो' पाक्षिक द्वारा गुजरात की जनता में जागृति लाने का यत्न किया।"

१८५७ ई० की क्रांति के पश्चात् क्रांति के मानसिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक उत्तराधिकारी के रूप में स्वामी दयानंद सरस्वती का नाम अवश्य लिया जाना चाहिए। यद्यपि उनके पूर्व ब्रह्मसमाज, प्रार्थना समाज आदि की स्थापना हो चुकी थी और उनके द्वारा जैसा कि हमने ऊपर देखा, समाज सुधार का कार्य हुआ और इससे भारतीय जन समाज में सामाजिक क्रांति लाने का यत्न किया गया, तथापि सांस्कृतिक पुनर्जागरण का यत्न उनके द्वारा नहीं हो पाया। वैसे उन्होंने हिंदू धर्म पर कतिपय सुधारवादी विचार अवश्य प्रस्तुत किये, किन्तु उसके बाह्य या ऊपरी स्तर तक ही स्पर्श करने की चेष्टा की थी। वास्तव में हिन्दू धर्म के आभ्यन्तर स्वरूप अर्थात् उसकी मूल चेतना पर विचार ही नहीं किया। सच्चे अर्थ में वेद, उपनिषद आदि महान ग्रंथों की श्रेष्ठता को स्थापित कर हिन्दू धर्म की ईसाई एवं मुसलमान धर्मों की तुलना में सर्वोपरिता सिद्ध करने का श्रेय स्वामी दयानंद सरस्वती को ही मिलता है। भारत के धार्मिक एवं सांस्कृतिक पुनर्जागरण के महान ज्योतिवाहक स्वामी दयानंद जिस समय सौराष्ट्र की भूमि पर अवतीर्ण हुए उस समय तक भारत में ब्रिटिश शासन सुदृढ़ रूप से स्थापित हो चुका था। अंग्रेज जाति के संपर्क ने भारतवासियों में हीन भावनायें जागृत की थीं। पाश्चात्य संपर्क ने अपनी भौतिक समृद्धि के द्वारा भारतीयों को दिग्मूढ़ सा बना दिया था। फलत: ये स्वयं को नितान्त दीन-हीन तथा अपदार्थ समझने लगे थे। पूर्ववर्ती पृष्ठों में यह निर्दिष्ट किया जा चुका है कि

धर्म- परिवर्तन की ईसाई मिशनरियों के द्वारा चलाई गई व्यवस्थित योजनाओं के परिणाम-स्वरूप धर्म एवं संस्कृति के क्षेत्र में संक्रान्तिकालीन अवस्था उत्पन्न हो चुकी थी। लोगों में अपने धर्म एवं संस्कृति के प्रति अनास्था का भाव पैदा हो रहा था। ऐसे समय में आर्य सभ्यता एवं वैदिक धर्म के मूलभूत संस्कारों की सुरक्षा के हेतु महर्षि दयानंद का आविर्भाव युगानुरूप घटना थी। वे एक ऐसे ज्योतिधर थे, जिन्होंने अपने क्रान्तदर्शी ओजस्वी तथा वर्चस्वी व्यक्तित्व से धर्म, समाज, राष्ट्र, शिक्षा तथा अर्थनीति जैसे जीवन के विविध क्षेत्रों को प्रभावित कर देश के मुमुर्षु जर्जर और कंकाल शेष शरीर में नवीन प्राणों का संचार किया। वैदिक धर्म की श्रेष्ठता को घोषित करते हुए महर्षि ने बताया कि वेदों को वैज्ञानिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक सिद्धांतों का स्रोत मानना चाहिए। उन्होंने आजीवन वेद एवं वैदिक संस्कृति के पुनरुद्धार का भगीरथ यत्न किया। धर्म केवल पारलौकिक ही नहीं अपितु इहलोक की उन्नति का भी साधन है।"[५२]

महर्षि ने धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक सभी क्षेत्रों में क्रांतिमूलक परिवर्तन करने का यत्न किया। एक ओर धर्म के बाह्याडंबरपूर्ण क्रियाकांड का विरोध करते हुए वैदिक धर्म एवं संस्कृति के सनातन मूल्यों की युगानुरूप व्याख्या की तो दूसरी ओर सामाजिक क्षेत्र में भी बाल विवाह, बहुपत्नीत्व, पर्दापद्धति, ज्ञातिप्रथा एवं सतीप्रथा के विरुद्ध बुलंद आवाज उठाई। भारतीय जन-समाज में उक्त विविध क्षेत्रीय क्रांति लाने के लिए वे १८६३ ई० से १८८३ ई० तक अनवरत कार्य करते रहे। हिन्दू-धर्म, संस्कृति, भाषा एवं राष्ट्रीयता के वास्तविक प्रचार-प्रसार के हेतु उन्होंने १८७५ ई० में आर्य-समाज की स्थापना की।

महर्षि का महत्व वैदिक धर्म एवं संस्कृति की व्याख्या पर एतद्विषयक उपदेश देने में ही नहीं, वरन् उन्होंने राष्ट्रीयता परक विचारों को भी प्रस्तुत किया है। वे सुराज्य से स्वराज्य को अधिक महत्व प्रदान करते थे। उनकी दृष्टि में विदेशी शासन अच्छा होने पर भी ठीक नहीं था। उन्होंने अपने समूचे वाङ्मय में धर्म एवं समाज सुधार के उपरान्त स्वराज्य और साम्राज्य की चर्चा की है। 'वेदभाष्य', 'सत्यार्थप्रकाश', 'आर्याभिविनय' तथा 'गोकरुणानिधि' के शतशः उद्धरण इस तथ्य के द्योतक हैं कि दयानंद भारत की राजनीतिक परतंत्रता से अत्यन्त दुखी थे तथा उनकी एकान्त कामना थी कि भारत विदेशियों के दासता-पाश से मुक्त होकर स्वराज्य का गौरव प्राप्त करे। वे मूलतः राष्ट्रवादी थे। हाँ, राष्ट्रवाद को उन्होंने संकुचित अर्थ में ग्रहण नहीं किया। रोमा रोलां उन्हें भारत के राष्ट्रीय पुनर्जागरण का पुरोधा बताते हुए राष्ट्रीय चेतना के प्रतीक मानते हैं। विद्यालंकार जी का यह अभिमत कि " उनका प्रमुख लक्ष्य राजनीतिक स्वातंत्र्य था। 'स्वराज्य' ------------------

शव्द का प्रयोग करनेवाले वे प्रथम पुरूष थे [५३], रोमारोलां के उक्त मत का समर्थन करता है। श्रीमती एनी बेसन्ट भी लिखती हैं कि - 'India for Indians' 'हिन्दुस्थान हिन्दुस्थान के लिए' की सर्वप्रथम घोषणा उन्होंने ही की थी। [५४] बंग-भंग, जिसका पूर्ववर्ती पृष्ठों में उल्लेख किया जा चुका है, के परिणाम स्वरूप स्वदेशी आंदोलन का प्रारंभ हुआ था, किन्तु इसके भी पूर्व दयानंद ने विदेशी चीज-वस्तुओं का निषेध एवं स्वदेशी वस्तुओं का उपयोग करना सिखाया। बाल गगांधर तिलक, लाला लजपतराय, गोपाल कृष्ण गोखले प्रभृति नेता जिन्होंने राष्ट्रीय आंदोलन का नेतृत्व ग्रहण किया था, वे सब आर्य समाज तथा दयानंद के राष्ट्रीय विचारों से प्रभावित/होकर थे। इतना ही नहीं उनके राष्ट्रीय विचारों से प्रभावित स्वाधीनता संग्राम में उनके अनुयायी आर्यों ने न केवल सत्याग्रही के रूप में भाग लिया अपितु सरदार अजितसिंह, सरदार भगतसिंह, सरदार करतारसिंह भाई परमानन्द, रामप्रसाद बिस्मिल, चन्द्रशेखर आजाद आदि नेताओं ने आतंकवादियों के रूप में सशस्त्र शक्ति प्रयोग के द्वारा साम्राज्यवाद को दहला दिया। सरदार अजितसिंह ने इटली में 'आजाद हिन्दुस्तान सैन्य' नामक सैन्य दल की स्थापना करके साम्राज्यवाद के लिए महान आश्चर्य पैदा कर दिया। बाद में यही सैन्यदल श्री सुभाषचंद्र बोस की 'आजाद हिन्द सेना' के रूप में परिणत हो गया। श्री श्याम जी कृष्ण वर्मा को देश की स्वतंत्रता प्राप्ति के लक्ष्य से सशस्त्र क्रांति की भूमिका तैयार करने के लिए दयानंद जी ने ही इंग्लैण्ड भेजा था।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि आर्य समाज ने हिन्दू धर्म एवं संस्कृति की श्रेष्ठता सिद्ध कर हिन्दू जाति में आत्म विश्वास तथा स्वाभिमान उत्पन्न किया जिससे भारतीय राष्ट्रीयता के निर्माण में अत्यधिक सहायता प्राप्त हुई। महर्षि दयानंद के राष्ट्रवादी विचारों को प्रस्तुत करते हुए विद्यालंकार जी कहते हैं कि- 'यजुर्वेद के पहले अध्याय के छठे मन्त्र की व्याख्या में महर्षि ने बताया है कि राजनीतिक भावना और स्वराज्य की स्थापना को विद्या-प्रचार या धर्म-प्रचार से पहिला स्थान

दिया गया है।---उनकी देशप्रेम या राष्ट्र-भक्ति की भावना इतनी पवित्र, उत्कृष्ट और सर्वव्यापी थी कि उनके सारे जीवन में और जीवन के समस्त कार्यों में मनुष्य की देह में रुधिर की तरह समाई हुई थी।[५५] महर्षि की भारतीय राष्ट्रीयता परक दूरदर्शिता के संदर्भ में डा० राजेन्द्रप्रसाद का यह कथन कितना सटीक है? वे लिखते हैं, 'उनकी सबसे बड़ी विशेषता उनकी दूरदर्शिता थी। यह देखकर आश्चर्य होता है कि विदेशी शासन के विरोध में सक्रिय संघर्ष के समय जिन बातों पर महात्मा गांधी ने अधिक बल दिया और उन्हें रचनात्मक कार्य की संज्ञा दी, प्राय: वे सभी काम स्वामी दयानंद के कार्यक्रम में पचास वर्ष पूर्व शामिल थे।'[५६] इस प्रकार की महर्षि की दूरदर्शिता एवं राष्ट्रीय विचारधारा ने भारतीय जन-समाज को बाह्याभ्यंतर दृष्टिकोणों से जागृत करके बीसवीं शताब्दी के स्वातंत्र्य-संग्राम के लिए मनसावाचा-कर्मणा तैयार कर दिया। इस संदर्भ में हंसकान का कथन दृष्टव्य है, 'यद्यपि ब्रह्मसमाज तथा आर्यसमाज एक ही क्रान्ति की उपज थे किन्तु यह आर्यसमाज ही था जिसने प्राचीन भारत को जगाकर बीसवीं शती के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया।'[५७]

सारांश यह कि सांस्कृतिक पुनर्जागरण के क्षेत्र में महर्षि दयानंद एवं उनके द्वारा स्थापित आर्यसमाज का महत्वपूर्ण प्रदेय भारतीय राष्ट्रीय इतिहास में अभूतपूर्व माना जाएगा। राष्ट्रीय चेतना को विविध क्षेत्रों में प्रबुद्ध करने का सफल प्रयास आर्यसमाज ने किया। भारतीय धर्म एवं संस्कृति को सुरक्षित रखने का जो कार्य मध्ययुग में गोस्वामी तुलसीदास ने किया वही कार्य आधुनिक युग में दयानंद सरस्वती एवं आर्यसमाज ने किया।

स्वामी दयानंद एवं उनके आर्यसमाज की परिपाटी पर सांस्कृतिक पुनर्जागरण आंदोलन में रामकृष्ण मिशन एवं स्वामी विवेकानंद का योगदान भी अविस्मरणीय है। यद्यपि प्रस्तुत मिशन के जन्मदाता श्री रामकृष्ण परमहंस थे तथापि इस संस्था के द्वारा धार्मिक व सांस्कृतिक आंदोलन चलाते हुए भारतीय जनजीवन की चेतना को जागृत करने और राष्ट्रोत्थान के भावी स्वप्न को साकार करने के महायज्ञ में

अनवरत कार्यरत रहने की प्रेरणा प्रदान करने का यश उनके शिष्य स्वामी विवेकानंद को ही प्राप्त है । उन्होंने न केवल भारतीय जनता को युगीन आलस्यपूर्ण निद्रा से जगाया और राष्ट्रोत्थान के कार्य में प्रवृत्त किया, वरन् विदेशों में भ्रमण कर भारतीय धर्म व संस्कृति के श्रेष्ठत्व का शंखनाद भी किया । १८८४ ई० की शिकागो की विश्वधर्म परिषद में तार्किक धरातल पर उन्होंने यह सिद्ध कर दिखाया कि भारत मानव जगत का आध्यात्मिक गुरु है । हिन्दू धर्म एक वैज्ञानिक धर्म है । उसमें अंधविश्वास तथा अन्य त्रुटियों को कोई स्थान नहीं है । नैतिक दृष्टि से भारत के समक्ष संयुक्त राज्य या संसार का कोई अन्य देश बौना मात्र है ।[५८]

अपने गुरु श्री रामकृष्ण परमहंस के १८६६ ई० में निधन के उपरान्त स्वामी विवेकानंद ने गुरु के विचारों का परिवहन करने तथा निजी अनुभवपूर्ण ज्ञान के व्यवस्थित प्रचार-प्रसार के उद्देश्य से उन्होंने रामकृष्ण मिशन की स्थापना की । अब भारत के विभिन्न स्थानों में परिभ्रमण करते हुए उन्होंने तत्युगीन भारत के प्रजाजनों में जो गरीबी, आलस्य व दूसरों की नकल करने की अंधाधुंध धुन परिलक्षित की उससे अत्यंत दुखी होकर उन्होंने उनमें एक वैचारिक क्रांति करते हुए आत्म शक्ति जागृत करने का निर्णय किया । दूसरे शब्दों में कहें तो उन्होंने उनमें ~~एक-वैनमरिक-क्रांति-करते-हुए~~ श्रद्धा एवं आस्था उत्पन्न करने तथा अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए साहसपूर्ण कार्य करने का मंत्र सुनाने का प्रयास प्रारंभ किया । भारतीय समाज को जैसे हाथ पकड़कर खड़ा करते हुए वे कहते हैं, ' ऐ भारत । क्या दूसरों की हां में हां मिलाकर, दूसरों की ही नकल कर, परमुखापेक्षी होकर इन दासों की दुर्बलता, इस घृणित जघन्य निष्ठुरता से ही तुम बड़े-बड़े अधिकार प्राप्त करोगे ? हे वीर ! साहस का आश्रय लो ।[५६] ज्ञातिवाद का विरोध करते हुए तथा समस्त भारत की प्रजा एक ही भारतमाता की संतान है और उसकी एकान्त कल्याण-कामना ही हमारा लक्ष्य होना चाहिए, यह इंगित करते हुए वे कहते

हैं, 'ऐ वीर ! गर्व से बोलो कि मैं भारतवासी हूं और प्रत्येक भारतवासी मेरा भाई है । बोलो कि अज्ञानी भारतवासी हूं-ौर-प्रत्येक-मनस्वक ब्राह्मण भारतवासी, चाण्डाल भारतवासी सब मेरे भाई हैं । भारतवासी मेरे प्राण हैं । भारत का समाज मेरी शिशु-सज्जा, मेरे यौवन का उपवन और मेरे वार्धक्य की वाराणसी है । भाई बोलो कि भारत की मिट्टी मेरा स्वर्ग है, भारत के कल्याण में मेरा कल्याण है । और रात-दिन कहते रहो- हे गौरीनाथ ! हे जगदंबे ! मुझे मनुष्यत्व दो मां मेरी दुर्बलता और कापुरुषता दूर कर दो, मुझे मनुष्य बनाओ ।[६०]

वास्तव में किसी भी युग में समाज में क्रांति लाने के लिए उसकी दुर्बलता एवं कापुरुषता को दूर करके उसमें साहस, श्रद्धा एवं कार्यरत रहने की भावमयी संजीवनी ही भरने की आवश्यकता होती है । प्रत्येक प्रबुद्ध व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह गरीब, असहाय और अज्ञानी जनता में वैचारिक, क्रान्ति जगाएं । इस दिशा में विवेकानंद जी अपने विचार प्रस्तुत करते हुए कहते हैं, 'प्रत्येक राष्ट्र, प्रत्येक पुरुष और प्रत्येक स्त्री को अपनी अपनी मुक्ति स्वयं सिद्ध करनी पड़ेगी । उनमें विचार पैदा कर दो-बस, उन्हें उसी एक सहायता की जरूरत है । शेष सब कुछ इसके फल-स्वरूप आप ही हो जाएगा । हमारा कर्तव्य है- उनमें भावों का संचार कर देना-बाकी वे स्वयं कर लेंगे । भारत में बस यही करना है ।'[६१]

भारतीय जन-समाज को वर्षों की निद्रा से जागृत करते हुए उनमें राष्ट्रीय चेतना भर देने के हेतु से जिस उत्साह से वे सम्बोधित करते हैं, लगता है भगवान् श्रीकृष्ण विषादग्रस्त अर्जुन को 'उत्तिष्ठ कौन्तेय' कहकर जगा रहे हों । वे कहते हैं, 'ईर्ष्या ही हमारे दास सुलभ राष्ट्रीय चरित्र का धब्बा है । भारतमाता के सपूत युवको, समझो कि तुम्हीं इस काम के लिए विधाता द्वारा भेजे हुए हो । काम में लग जाओ, ईश्वर तुम्हारा भला करे । नये आदर्श, नये सिद्धान्त और नये जीवन का प्रचार करो ।[६२] स्वामी सारदानंद को लिखते हुए भी वे ऐसी ही संवेदना

प्रकट करते हैं ,'शक्तिमान्, उठो तथा सामर्थ्यशाली बनो । कर्म, निरन्तर कर्म, संघर्ष, निरंतर संघर्ष करते चलो ।'[63] यदि समाज का प्रत्येक व्यक्ति पूर्ण जागृति के साथ निरंतर कार्य में प्रवृत्त हो जाय तो समाज या राष्ट्र का कोई लक्ष्य ऐसा नहीं जिसे प्राप्त न किया जा सके । स्वामी जी की यह दृढ़ मान्यता थी कि यदि मनुष्य सच्ची लगन के साथ कार्य प्रारंभ करे तो परिणाम में वह अपनी लक्ष्य सिद्धि कर ही सकता है । तभी तो वे पुन: पुन: कहा करते थे,'उठो, जागो, रुको मत, जब तक ध्येय तक न पहुंच जाओ ।'

भारतीय जनता को अपने पैरों पर खड़ी करने के उद्देश्य से वे उसमें श्रद्धा एवं आत्मविश्वास का भाव जगाते हुए उनमें आत्मबल का संचार करना चाहते थे । इस संदर्भ में अपनी निर्धारित कार्यप्रणाली की ओर संकेत करते हुए वे जस्टिस सुब्रह्मण्यम को लिखते हैं,'भारत के शिक्षित समाज से मैं इस बात पर सहमत हूं कि समाज का आमूल परिवर्तन करना आवश्यक है । पर यह किया किस तरह जाय ? मेरी योजना यह है- हमने अतीतकाल में कुछ बुरा नहीं किया- निश्चय ही नहीं किया । हमारा समाज खराब नहीं बल्कि अच्छा है । मैं केवल चाहता हूं कि वह और भी अच्छा हो । हमें असत्य से सत्य तक और बुरे से अच्छे तक पहुंचना नहीं है । वरन् सत्य से उच्चतर सत्य तक, श्रेष्ठ से श्रेष्ठतर और श्रेष्ठतम तक पहुंचना है । मैं अपने देश-वासियों से कहता हूं कि अब तक जो तुमने किया सो अच्छा ही किया है, अब इस समय और भी अच्छा करने का मौका आ गया है । हिंदुओं को दिखा देना है कि उन्हें कुछ भी त्यागना नहीं पड़ेगा केवल उन्हें ऋषियों द्वारा प्रदर्शित पथ पर चलना होगा । और सदियों की दासता के फलस्वरूप अपनी जड़ता को उखाड़ फेंकना होगा । ---- प्रत्येक राष्ट्र के जीवन में एक मुख्य प्रवाह रहता है : भारत में वह धर्म है । उसे प्रबल बनाइए, बस दोनों ओर के अन्य स्रोत उसी के साथ-साथ चलेंगे ।'[64]

स्वामी जी ने भारतीय जन समाज के उत्थान के लिए श्रद्धा एवं आत्मविश्वास

के उपरांत शिक्षा को भी आवश्यक ही नहीं अपितु अनिवार्य समझा है । इसके अभाव में राष्ट्र-निर्माण-कार्य दुष्कर हो जाता है । राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया में शिक्षा के महत्व को इंगित करते हुए उन्होंने श्री हरिदास को इस तरह लिखा कि, `सर्वसाधारण को शिक्षित बनाइए एवं उन्नत कीजिए, तभी एक राष्ट्र का निर्माण हो सकता है । हमारे समाज-सुधारकों को तो घाव के स्थान का भी ज्ञान नहीं है । वे विधवाओं का विवाह कराके राष्ट्र का उद्धार करना चाहते हैं । ----- सारे दोष यहां हैं :- यथार्थ राष्ट्र जो झोपड़ियों में निवास करता है, अपना पौरुष विस्मृत कर बैठा है, अपना व्यक्तित्व खो चुका है । हिन्दू, मुसलमान या ईसाई के पैरों से रौंदे वे लोग यह समझ बैठे हैं कि जिस किसी के पास पैसा हो, वे उसी के पैरों से कुचले जाने के लिए पैदा हुए हैं । उन्हें उनका खोया हुआ व्यक्तित्व प्रदान करना होगा, उनको शिक्षित बनाना होगा ।`[६५] शिक्षा का महत्व समझाते हुए वे श्रीमती सरला को लिखते हैं, `केवल शिक्षा । शिक्षा । शिक्षा । यूरोप के बहुतेरे नगरों में घूमकर और वहां के गरीबों के भी अमन-चैन और शिक्षा को देखकर अपने गरीब देशवासियों की याद आती थी और मैं आंसू बहाता था । यह अन्तर क्यों हुआ ? उत्तर में पाया कि शिक्षा से । शिक्षा और आत्मविश्वास से उनका अन्तर्निहित ब्रह्मभाव जाग गया है, जबकि हमारा ब्रह्मभाव क्रमश: निद्रित संकुचित होता जा रहा है ।[६६] अंग्रेजों के द्वारा प्रारंभ की हुई वर्तमान शिक्षा प्रणाली से असंतुष्ट होकर विवेकानंद जी ने शिक्षा के मूल स्वर को ही बदल देना चाहा । उनकी दृढ़ मान्यता रही है कि जो शिक्षा श्रद्धा एवं आत्मविश्वास का भाव उत्पन्न न कर सके उसका कोई महत्व नहीं । अपने इन विचारों को व्यक्त करते हुए वे आगे लिखते हैं, `वैसे ही हमारे लड़के जो शिक्षा पा रहे हैं, वह बड़ी निषेधात्मक है । स्कूल के लड़के कुछ नहीं सीखते, बल्कि जो कुछ अपना है, उसका भी नाश हो जाता है और इसका परिणाम होता है- श्रद्धा का अभाव । जो श्रद्धा वेद-वेदान्त का मूल मंत्र है, उसी श्रद्धा का लोप । गीता में कहा है-`अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति` अज्ञ तथा श्रद्धाहीन और संशययुक्त पुरुष का नाश हो जाता है ।[६७] तभी तो वैदिक

शिक्षा प्रणाली से उन्होंने मद्रास में भी शिक्षा के लिए एक कालेज स्थापित करने की योजना बनाई थी ।

शिक्षा के साथ-साथ नारी-उत्थान के लिए भी उन्होंने अपने महिला अनुयायियों को एकाधिकबार संकेत किया था । नारी के उत्थान के बिना सच्चे अर्थों में सामाजिक परिवर्तन नहीं लाया जा सकता । श्रीमती सरला जी को संबोधित करते हुए लिखते हैं, 'मैं दिव्य दृष्टि से देख रहा हूं कि यदि भारत की नारियां देशी पोषाक पहने भारतीय ऋषियों के मुंह से निकले हुए धर्म का प्रचार करें तो एक ऐसी बड़ी तरंग उठेगी जो सारे संसार को डुबा देगी । इंगलैण्ड पर हम लोग अध्यात्म के बल से अधिकार कर लेंगे, उसे जीत लेंगे- 'नान्य: पंथा विद्यतेऽयनाय' इसके सिवा मुक्ति का और दूसरा मार्ग ही नहीं । क्या, सभा समितियों के द्वारा कभी मुक्ति मिल सकती है ।[६७] नारी के उत्थान के भगीरथ कार्य में भगिनी निवेदिता को उसका उत्तरदायित्व समझाते हुए वे लिखते हैं, ' मैं तुमसे स्पष्ट रूप से कहना चाहता हूं कि मुझे विश्वास है कि भारत के काम में तुम्हारा भविष्य उज्ज्वल है । आवश्यकता है स्त्री की, पुरुष की नहीं- सच्ची सिंहनी की, जो भारतीयों के लिए विशेषकर स्त्रियों के लिए काम करे ।[६८]

सारांश यह कि स्वामी विवेकानंद ने तथा रामकृष्ण मिशन ने भी आर्य-समाज की भांति सांस्कृतिक पुनर्जागरण के कार्य में अभूतपूर्व योगदान दिया और भारतीय जनसमाज में राष्ट्रीय चेतना को जागृत कर आगामी राष्ट्रीय स्वातंत्र्य-संग्राम के लिए भी प्रशस्त किया ।

पूर्ववर्ती पृष्ठों में अद्यावधि राष्ट्रीय जागरण की जिन विविध भूमियों का अनुशीलन किया गया है उससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि एक ओर जब ब्रिटिश सरकार की अन्याय व दमनपूर्ण नीतियों के परिणाम स्वरूप भारतीय जन-जीवन

में राजनीतिक स्तर पर जागृति आ सकी तो दूसरी ओर उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्धकालीन सांस्कृतिक पुनर्जागरण आंदोलन के समाज सुधारकों ने विशेषकर आर्य-समाज एवं रामकृष्ण मिशन ने भारतीय जन समाज को सदियों की निद्रा से जगाते हुए, उनमें वैदिक धर्म एवं संस्कृति के सनातन मूल्यों से अवगत कराते हुए उनमें साहस, शौर्य एवं राष्ट्रोत्थान की भावना का मंत्र फूंका । राष्ट्र एवं समाज के उत्थान व स्वराज्य प्राप्ति विषयक उक्त आंदोलन की जिन प्रवृत्तियों का अनुशीलन किया गया उससे कहा जा सकता है कि भारतीय राष्ट्रवाद एवं भावी सन्क स्वातंत्र्य संग्राम के प्राय: सभी सूत्र बीज रूप में विद्यमान हैं । तदर्थ इस काल को राष्ट्रीय स्वातंत्र्य संग्राम का बीजियपन काल कहने में कोई अत्युक्ति नहीं होगी ।

- साहित्य समाज का दर्पण एवं प्रतिनिधि भी होता है । समाज व राष्ट्र की परंपरा तथा युगीन सम-विषम परिस्थितियों से साहित्य अवश्य प्रभावित होता रहता है । इतना ही नहीं वह समाज व राष्ट्र की विभिन्न गति-विधियों का चित्रण करता हुआ उसे भावी मंगलमय जीवनयापन के लिए पथ-प्रदर्शन भी करता रहता है । भारतीय राष्ट्रीय चेतना के जागरण की विविध भूमियों ने आधुनिक हिंदी काव्य परंपरा को प्रभावित ही नहीं, अनुप्राणित भी किया है । अर्थात् इस काव्य परंपरा में राष्ट्रीय जागरण के विकास को एक सीमा तक लक्ष्य किया जा सकता है, जो कि हमारे परवर्ती अध्याय का विषय है ।

--

७- आधुनिक साहित्य का विकास, डा० कृष्णलाल, पृ० ८२
८- राजनीतिशास्त्र के सिद्धान्त, लै०रामचन्द्र अग्रवाल से उद्धृत, पृ०१०५
९- नागरिक शास्त्र के पन्ने, लै० गुरुशरनदास -यागी से उद्धृत, पृ०११५-१६
१०- भारत की राष्ट्रीय संस्कृति, डा० आबिद हुसैन, से उद्धृत, पृ०२५(सं०२०१५वि०)
११- द्रष्टव्य- 'हे पृथ्वी माता, तू मुझे अच्छी तरह संस्थापित करने की कृपा कर । स्वर्ग के अनुकूल रखते हुए, हे कृषि, तू मुझे धन और समृद्धि में स्थापित कर ।' (हिन्दू संस्कृति में राष्ट्रवाद, डा० राधाकुमुद मुकर्जी पृ० १२-१३)
१२- पृथिवी पुत्र, डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, 'पृथिवी सूक्त एक अध्ययन, अध्याय से उद्धृत । पृ० २७
१३- नागरिक शास्त्र के पन्ने, लै० गुरुसरनदास त्यागी, पृ० ११५
१४- हिंदी की राष्ट्रीय काव्यधारा, एक समग्र अनुशीलन, डा० देवराज शर्मा, पृ०४६
१५- वही, पृ० २४
१६- राजनीति शास्त्र के सिद्धान्त, लै० रामचन्द्र अग्रवाल, पृ० ६२
१७- वही ।
१८- भारत की राष्ट्रीय संस्कृति, डा० आबिद हुसैन, भूमिका, पृ० ६ से उद्धृत ।
१९- भारत की मौलिक एकता, डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, अ०१ पृ० ६-१०
२०- मध्यकालीन हिंदी काव्य में भारतीय संस्कृति, डा० मदनगोपाल गुप्त, पृ०४६
२१- कला और संस्कृति, द्वितीय आवृत्ति की भूमिका से उद्धृत, पृ०३
२२- राजनीतिशास्त्र के सिद्धान्त, लै०रामचन्द्र अग्रवाल, पृ०९०
२३- 'यतो भ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः ।'
२४- भारत की राष्ट्रीय संस्कृति, डा० आबिदहुसैन, पृ० १० से उद्धृत ।
२५- वही, पृ० ९
२६- भारत की राष्ट्रीय संस्कृति, डा० आबिदहुसैन, पृ० १४
२७- हिस्ट्री आफ इंडियन म्यूटिनी, ~~मग्ने~~ फारेस्ट, भाग-१ पृ० २४
२८- Rise and fulfimment of British Rule in India(1935) by Thompson & Garret.
२९- A.C.Hume', by Wedderburn William, Page 122-31 (अनुदित)
'ह्यूम को लगा कि आपखुद की अपेक्षा संसदीय सरकार की रचना से तथा उसमें भारतीयों को उचित एवं पर्याप्त संख्या में स्थान देने से प्रवर्तमान परिस्थितियों में इप्सित परिवर्तन लाया जा सकता है । तदर्थ उसे एक राष्ट्रीय संस्था की आवश्यकता की अनिवार्यता अनुभूत हुई जो हिंदियों की विकसमान इच्छाओं की पूर्ति कर सके ।'

३०- इस संदर्भ में एस बेनरजी का अभिमत द्रष्टव्य है-'सरकार ने बंगालियों का इससे बहुत बड़ा अपमान किया था। इसके पीछे सरकार का आशय बंगाल का ऐक्य विभाजन और हिन्दू -मुस्लिम वैमनस्य जगाकर विकसमान राष्ट्रीय एकता को क्षति पहुंचाने का था।' A Nation in making,S.Benerjee,P.550

३१- Indian National Movement,D.C.Gupta,(1970) P.6

३२- हिंद स्वराज्य' महात्मा गांधी, पृ० १५-१८

३३- Indian unrest- 1910, ~~Wellentone~~ Valentine Chirol,P.83

३४- A case for India, New Yark-1930,Will Durent,P.123

३५- 'Ibid' P.357 (अनुदित)

३६- The Awakening of India,R.Macdonel,P.177 (अनुदित)

३७- इस संदर्भ में महासभा के तत्कालीन प्रमुख श्री सत्येन्द्रनाथ सिंहा का कथन दृष्टव्य है :'युद्ध के दौरान ताज के प्रति वफादारी की तरंग भारत में व्याप्त हो गई थी। लोग युद्ध में शरीक होने को बेचैन थे। बदले में ब्रिटिश सरकार की ओर से कुछ भी प्राप्त करने की उनकी आकांक्षा नहीं थी।'
History of the Indian National Congress,Vol.I 1919,
P.Sitaramaiya,P.122

३८- वही, पृ० ३३६

३९- Struggle for Freedom Vol.XI(1969),R.C.Majumdar & Others,P.261

४०- इंडियन पोलिटिक्स Since the Mutiny,C.Y.Chintamani,P.102

४१- Land marks in Indian Constitutional & Natural Developments.
G.N.Singh Vol.I.P.257

४२- History of the Freedom Movement in India,Vol.II 1983
R.C.Majumdar,P.372-73

४३- Mont ford Report 1918

४४- Life of Tilak,II,Ramgopal

४५ ~~५२~~- भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का इतिहास, लें० रामगोपाल से उद्धृत। पृ०३१ से ३३

४६ ~~५३~~- भारत ना स्वातंत्र्य संग्रामो अने तेना घडवैयाओं, प्रा० मंगुभाई पटेल, पृ० ६२ से अनुवाद सहित उद्धृत ।

४७ ~~५४~~- वही, पृ० ६१

४८ ~~५५~~- `इवीड` पृ० ८१

४९ ~~५६~~- मीसैलिनियस राइटिंग्स आफ एम जी रानडे`, पृ० ८२

५० ~~५७~~- 'Indian Politics since the mutiy. लें०सी वाय चिंतामणि,पृ०

५१ ~~५८~~- `सती गीता`, कडवुं १८, मुक्तानंद स्वामि ।

५२ ~~५९~~- 'यतोऽभ्युदयनि: श्रेयससिद्धि: स धर्म: ।' वैशेषिक १।१।२

५३ ~~६०~~- राष्ट्रवादी दयानंद, श्री सत्यदेव विद्यालंकार, पृ० २५

५४ ~~६१~~- महर्षि दयानंद की देन, लें० श्री सुमेधा मित्र, पृ० १२३ से उद्धृत ।

५५ ~~६२~~- राष्ट्रवादी दयानंद, श्री सत्यदेव विद्यालंकार, पृ० २६

५६ ~~६३~~- महर्षि दयानंद की देन, श्री सुमेधा मित्र, पृ० १२४

५७ ~~६४~~- A History of Nationalism in the East, by Hanskan.P.63 (अनुदित)

५८ ~~६५~~- विवेकानंद संचयन-जन्मशती प्रकाशन से उद्धृत ।

५९ ~~६६~~- विवेकानंद साहित्य नवम खंड: वर्तमान भारत, पृ० २२५ से उद्धृत ।

६० ~~६७~~- विवेकानंद साहित्य नवम खंड: `वर्तमान भारत, पृ० २२५

६१ ~~६८~~- विवेकानंद संचयन- जन्मशती प्रकाशन से उद्धृत ।

६२ ~~६९~~- ३ मार्च १८९४ में शिकागो से सिंगारावेलू मुदालियर को लिखित पत्र से अनुवाद सहित उद्धृत ।

६३ ~~७०~~- ६ जुलाई १८९० में कलकत्ता से स्वामि सारदानंद को लिखित पत्र से उद्धृत ।

६४ ~~७१~~- ३ जनवरी १८९५ ई० में शिकागो से जस्टिस सुब्रह्मण्यम अय्यर को लिखित पत्र से ।

६५ ~~७२~~- २० जून १८९४ में शिकागो से दीवान श्री हरिदास विहारीदास देसाई को लिखित पत्र से उद्धृत ।

६६- श्रीमती सरला घोषाल को लिखित से से उद्धृत ।

६७- वही ।

६८- २४ अप्रैल १८६७ ई० को दार्जिलिंग से श्रीमती सरला घोषाल को लिखित पत्र से।

६९- २६ जुलाई १८९७ ई० को अल्मोडा से भगिनी निवेदिता को लिखित पत्र से ।

--